पाषाण-युग

तीन लघु उपन्यास

- ज्वालामुखी के गर्भ में
- पाषाण-युग
- निष्कासन

पाषाण-युग

मालती जोशी

वाई-पपा को—
लिखने-पढ़ने का यह
जिनसे विरासत में मि

पाषाण-युग

ज्वालामुखी के गर्भ में

'ए साहब बहादुर ! लोग-बाग आपको देखने के लिए नहीं आये हैं।'

अपनी कलमों को तरतीब में संवारते हुए हरि भैया दर्पण में मेरी परछाईं देखकर झेंप गये। फिर एकाएक बोल्ड बनने की कोशिश में मेरी ओर पलटकर बोले,'मैं जरा दूरदर्शिता से काम ले रहा था। हो सकता है, उन लोगों के साथ एकाध बहन, एकाध सहेली हो।'

'जी नहीं, उन लोगों के साथ सिर्फ एक अदद मम्मी है।' मैंने मुंह बिचकाकर कहा।

'तो क्या वे लोग आ गये ?'

'और क्या। गाड़ी समय से पहले चल रही है। हमारी तो एकदम मुसीबत ही हो गयी।'

'भैया तैयार हो गये ?'

'सो रहे हैं कुंभकर्ण महाराज। उन्हीं को जगाने के लिए तो आयी हूं। और हां, मौसी ने कहा है, 'मिलन स्वीट्स' के यहां ऑर्डर दे रखा है, जल्दी से मिठाई ले आओ। और देखो, पीछे से आना।'

पलटकर मैं देहरी तक ही जा पायी थी कि उन्होंने पुकारा, 'ए मीता, सुन इधर !'

'क्या है बाबा ! हमें देर हो रही है।'

'लड़की कैसी है ?'

'एकदम हेमा मालिनी है।' मैंने कहा और भाग आयी। हेमा मालिनी

के नाम से ही हरि भैया का कलेजा धक्-धक् होने लगता है।

बड़े भैया आराम से सो रहे थे। चारखाने की लुंगी और बनियान पहने। सुबह ही नाइट पुलमन से पहुंचे थे। शेव भी नहीं बनाया था। खाना खाकर जो सोये थे, तो अब तक···अभी जो लड़कीवाले आकर देख जाएं तो दुबारा इस घर का रुख न करें।

मां और मौसी भी खूब हैं। कम-से-कम सुबह इन्हें संकेत तो दे देतीं। कोई घर से भाग तो नहीं जाते। उन्हें फंसाने में खुद फंस गयी हैं। अच्छा हुआ, ऐसा ही होना चाहिए।

'भैया, उठिए, मां बुला रही हैं।' मैंने उन्हें झकझोरते हुए कहा।

उन्होंने तुरंत ही आंखें खोल दीं। डॉक्टरी पढ़ने का यह एक अच्छा लाभ है। हरि भैया की तरह घंटों प्रभाती नहीं गानी पड़ती।

'क्या है ? क्यों परेशान कर रही है ?' उन्होंने अलसाये स्वर में पूछा।

'मां बुला रही हैं।'

'कह दे, आ रहा हूं।' उन्होंने अंगड़ाई लेकर उठते हुए कहा।

'जल्दी आना···और सुनिए, जरा ढंग से तैयार होकर आइएगा।' मैंने रहस्यमय ढंग से कहा।

'तैयार होकर आऊं ? क्यों ?'

'नीचे लोग-बाग आए हैं।'

'कौन लोग ?'

'लड़कीवाले। पिछली बार आप आए थे, तो आपको फोटो दिखायी थी न मां ने। उज्जैनवाली ? इतनी सुंदर लड़की है। मां तो एकदम खुश हो गयी हैं। कह रही हैं— अगर दिन अच्छा होगा, तो आज ही शगुन भी कर देंगी।'

मैं उत्साह में कहे जा रही थी, पर देखा—सामनेवाले पर कोई अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं हो रही है। कंघी करते-करते उनका हाथ एकदम रुक गया था। माथे पर गहरी लकीरें खिंच आयी थीं। मैं चुप हो गयी।

'लड़की के साथ कौन-कौन हैं ?' उन्होंने धीरे से पूछा।

'मां हैं, पिताजी हैं, भाई हैं। पूरा कबीला है।'

'भाई को जरा ऊपर भेज दे मेरे पास।'

मैं असमंजस में वहीं खड़ी रही, तो खीजकर बोले, 'सुनाई नहीं दिया क्या ?'

'जी, अच्छा।' मैंने मुंह फुलाकर कहा और ज़ीना उतरने लगी। सारा उत्साह फीका पड़ गया था।

हॉल में खनकती हुई हंसी के साथ संभाषण पूरे यौवन पर था। मौसी एक-दो बार उज्जैन हो आयी थीं। लड़की के भाई, पिता भी घर देखने और मां से मिलने के बहाने एक-दो बार आ चुके थे। इसीलिए अपरिचय की कोई दीवार बीच में नहीं थी।

मैं एकदम सबके बीच में जाकर खड़ी हो गयी। लड़की के भाई की तरफ मुखातिब होकर बच्चों की तरह ठुनकती आवाज में कहा, 'आपको भैया बुला रहे हैं। ऊपर कमरे में।'

क्षणभर को बातचीत जैसे जम गयी। वे पिता की मौन सम्मति पाकर उठे और मैं गाइड की तरह साथ हो ली।

ऊपर जाकर देखा, भैया पतलून और कमीज पहन चुके हैं। मुंह पर पानी के छींटे देकर नींद भगाने का भी प्रयास किया गया है। बिखरे बाल भी अब तरतीब से संवारे हुए लग रहे थे।

दोनों ने अपना-अपना परिचय देते हुए गर्म-जोशी से हाथ मिलाया। भैया ज्यादा उत्साहित नहीं लगे। शायद सफर की थकान और नींद का बोझिलपन अब भी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं था।

'तू जा, मीता! मैं मि० पाठक को नीचे ले आऊंगा।' भैया ने कहा। यह आदेश था, नरम स्वर में कहे जाने के बावजूद मैं उसे टाल नहीं सकी।

●

मि० पाठक ज्यादा देर ऊपर नहीं रुके। हॉल में लौटे, तो उनका चेहरा भारी था। सबकी आंखें उन पर टिक गयीं।

'क्या बात है, ललित ?' पिता ने व्यग्रता से पूछा।

मि० पाठक ने एक बार अपनी और एक बार मेरी मां की ओर देखा। फिर सख्ती से होंठ भींचते हुए बोले, 'डॉ० मनीष चाहते हैं कि उनकी मां के सामने यह रहस्य न खोला जाए, मगर मेरी बला से! पापा, इन महाशय का कहना है कि इनकी सगाई हो चुकी है।'

या ?' कितने कंठों ने एक साथ प्रश्न किया।
मनीष ?' मां किस बुरी तरह से चीखीं।
क्या है, मां ?' भैया ने कमरे में आते हुए शांत स्वर में पूछा।
ये...ये ललित भाई क्या कह रहे हैं ?'
'ठीक कह रहे हैं।'
'किस लड़की से शादी कर रहा है तू ?'
'यह सब चर्चा बाद में भी हो सकती है, मां !' भैया ने उसी शांत स्वर
कहा और फिर मेहमानों से माफी मांगते हुए कहा, 'मुझे बहुत-बहुत
फ़सोस है, इन लोगों ने अगर जरा भी संकेत दिया होता तो शायद...'
'ओह, जरा इन्हें संभालिए।' कहते हुए वयोवृद्ध मेहमान एकदम उठ
ड़े हुए थे। हम सबने चकित होकर देखा, मां बेहोश होकर कुर्सी पर ही
लुढ़क गयी थीं। मैं तो चीखकर उनसे लिपट जाने को हुई, पर भैया ने
सख्ती से मुझे दूर खड़ा कर दिया। उस समय उनका चेहरा ऐसा लग रहा
था, जैसे पत्थर में तराशा गया हो। अपनी मज़बूत बांहों में मां का दुर्बल
शरीर समटते हुए उन्होंने भीतर जाते हुए इतना ही कहा, 'मौसी ! मेरे
साथ आना ज़रा।'

पीछे-पीछे जाने की इच्छा को बहुत मुश्किल से रोक पायी मैं। वहीं
सोफे पर बैठकर दोनों हाथों में मुंह छिपाकर सिसकने लगी। मिसेज़
पाठक मेरा सिर सहलाती रहीं। अजीब असमंजस की स्थिति थी। एकाएक
ललित ने कहा, 'हम अब चलें, पापा !'

'ना बेटे, ऐसे अच्छा नहीं लगता। बहनजी की हालत ज़रा ठीक
होने......'

'तो आप रुकिए ! मैं जा रहा हूं।'

'ठहरो, दादा ! मैं भी आपके साथ चलूंगी।'

उस दर्प भरे स्वर से चौंककर मैंने सिर उठाया। कमरे में उस सजी-
धजी मूर्ति का अस्तित्व ही मैं भूल गयी थी। लेकिन क्या यह वही चेहर
था, जो कुछ समय पहले तक शर्मीली मुसकान से दमक रहा था ! भैय
का चेहरा अगर काले संगमरमर में बदल गया था, तो यह तो पूरी-की-पू
प्रतिमा बर्फ़ हो गयी थी।

'अरे, ये लोग जा रहे हैं। अंदर चाय लग गयी है न!'

खुशबू का एक भभका आया और लजीली मुसकराहट लिये हरि भैया कमरे में दाखिल हुए। एक क्षण को अनचाहे सबकी निगाहें उन पर टिक गयीं। गोरे-चिट्टे हरि भैया नेवी ब्लू पैंट और क्रीम कलर की मनीला पहने सचमुच बड़े प्यारे लग रहे थे। उन्होंने अपनी सजावट पर काफी समय खर्च किया था। टाई पिन से लेकर जूतों तक सब कुछ लकदक कर रहा था। सबको अपनी ओर घूरते देखा तो वे कुछ सचेत हो गये।

'और लोग कहां हैं ? चाय बिलकुल तैयार है।'

बेचारे हरि भैया ! इतना तरस आया उन पर। दीन-दुनिया से बेखबर वे चाय की मेज़ ही सजाते रह गये थे।

'आपकी तारीफ !' ललित के पिताजी ने पूछा।

'ये हरि भैया हैं।'' मैं बच्चों की तरह इतना ही कह पायी।

'पढते हैं ?'

'जी हां। बी० कॉम० फाइनल में हूं।' उन्होंने लजीले अंदाज में कहा।

ललित और सुलक्षणा इस बीच कब चले गये, पता ही नहीं चला।

कुछ देर बाद तौलिये से माथे का पसीना पोंछते हुए भैया बाहर आये।

'अब वे कैसी हैं ?' मि० पाठक ने व्यग्रता के साथ पूछा।

'अब अच्छी हैं। थैंक गॉड!'

'क्या ऐसा अकसर होता है ?' मिसेज पाठक ने पूछा।

'जी, पहले अकसर होता था। दरअसल मेरे पिताजी और मुझसे छोटी एक बहन, एक साथ एक एक्सीडेंट मे चल बसे थे। उस हादसे ने मां का मन बहुत तोड़ दिया है। किसी भी आघात को सह नहीं पाती। मुझे अफसोस है, सब मेरी वजह से हुआ।'

'कोई बात नहीं।' मि० पाठक ने उनकी पीठ को थपथपाते हुए कहा।

'आप लोगों को मेरी वजह से इतनी परेशानी उठानी पड़ी, मैं अपनी शर्मिंदगी का बयान नहीं कर सकता।' भैया ने भर्राये कंठ से कहा।

'नहीं, इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं थी।' मि० पाठक ने सांत्वना के स्वर में कहा। मुझे वे पति-पत्नी सज्जनता की प्रतिमूर्ति लगे।

आत्मग्लानि से उबरकर अब भैया ने सिर ऊपर उठाया, 'अरे हरि, तुम कहां थे अभी तक ? जज साहब, यह मेरा छोटा भाई हरीश है।'

'हां, अभी नमिताजी ने परिचय कराया था।'

'भैया, चाय यहीं मंगायी जाए, या...' हरि भैया कहते-कहते रुक गये। प्रसंग का गांभीर्य अब भी उनकी समझ में नहीं आया था। और सबके सामने उन्हें समझाया भी नहीं जा सकता था। पर शायद वातावरण के तनाव को वे कुछ-कुछ अनुभव कर रहे थे।

'एक-एक कप चाय भी हम आपको न पिला सके, तो हमें बहुत दुःख होगा। मुझे उम्मीद है, आप ना नहीं करेंगे।'

भैया इतने विनम्र हो सकते हैं, यह मेरी कल्पना से भी परे था। शायद वे अब भी अपने आपको क्षमा नहीं कर पा रहे थे। उनके अनुरोध को पाठक दंपति टाल नहीं सके।

मेज़ दुल्हन की तरह सजी हुई थी। सबने निःशब्द चाय के घूंट भरे और उठ खड़े हुए। भैया, मैं और हरि भैया गाड़ी तक उन लोगों को छोड़ने गये। मौसी मां की सुश्रूषा का बहाना लिये कमरे में ही बैठी रहीं।

गहमागहमी में बीता हुआ दिन शाम को यूं चुपचाप उदास होकर लौट गया था।

'मां, मुझे कुछ कहना है।'

मां के तलुओं में घी की मालिश करते हुए मैंने सिर उठाकर देखा, भैया छाती पर दोनों हाथ बांधे विवेकानंद की मुद्रा में खड़े थे। मां ने कुछ जवाब नहीं दिया और मुंह फेरकर लेट रहीं। इतना रोष हो आया मां पर। पिछले दो दिनों से उन्होंने भैया से एक बार भी बात नहीं की थी। बेचारे चुपचाप उनकी सुश्रूषा करते रहे थे। इन दिनों उनका चेहरा इतना करुण लगता था कि दया हो आती थी।

'मैं सोचता हूं मां, अब तुम्हारी तबीयत इस लायक हो गयी है कि मेरी बात सुन सको, सह सको। वैसे भी मेरे पास अब समय नहीं है। सुबह की बस से मुझे चले जाना है।'

भैया ने कहा और दरवाज़ा बंद करके कुर्सी पर बैठ गये। कुछ क्षण

तक वे कलाई-घड़ी को गोल-गोल घुमाते रहे, शायद अपनी बात ठीक से कह पाने का साहस मंजो रहे थे। पर मां ने उन्हें मौका ही नहीं दिया। बोली, 'मीता, दरवाज़ा खोल दे, मेरा दम घुट रहा है।'

मैं उठने लगी, तो भैया ने हाथ पकड़कर मुझे रोक दिया, 'दरवाज़ा मैंने जान-बूझकर बंद किया है, मीता। इस घर में प्रायवेसी नाम की नहीं थी। आशा रह गयी है। दो दिन से छटपटा रहा हूं, पर इतने सारे लोगों के बीच मैं अपने मन की बात नहीं कह सकता।'

'उस दिन कह तो चुका था मन की। क्या अब भी कोई कसर बाकी है?' मां एकदम उठ बैठी। उत्तेजना से उनकी माथे की नसें फड़कने लगी थी।

'उस दिन कहां कुछ कह पाया था! तुम सुनने की स्थिति में ही नहीं थीं। आशा थी कि तुम स्वयं पूछोगी कि मैं यूं एकाएक कैसे चला आया हूं। सोच रहा था कि शादी की बात सुनकर तुम्हें कुछ तो उत्सुकता होगी। पर लगता है, तुम्हें अपने बच्चों में उतनी भी दिलचस्पी नहीं रह गयी है।'

'दिलचस्पी नहीं होती, तो तेरे लिए दुनिया-जहान की लड़कियां देखती फिरती मैं? चार भले आदमियों के सामने मेरा अच्छा तमाशा बनाया तूने।'

और मां ऐसे कांपने लगी, जैसे जूड़ी चढ़ आयी हो।

'भैया, प्लीज! अभी ये सब बातें रहने दो। मां की हालत देख रहे हो न!'

'देख रहा हूं, बरसों से देख रहा हूं। अपनी बड़ी-से-बड़ी समस्या को मंझधार में छोड़कर, पहले दौड़कर इन्हीं को देखना पड़ा है, इन्हीं को संभालना पड़ा है। सारी ज़िंदगी यही करता आ रहा हूं। तभी तो पचीस साल की उम्र में एकदम बूढ़ा गया हूं।'

मां का हिलता हुआ शरीर एकदम काठ की तरह स्थिर और निस्पंद हो गया था। वे फटी-फटी आंखों से भैया को देखने लगी थीं। पर वे एक क्षण को भी वहां नहीं रुके।

मां देर रात तक तकिये में मुंह छिपाये सुबकती रहीं। मौसी ने तरह-तरह से मुझसे तर्क-वितर्क किये, पर मैंने कुछ नहीं बताया। और बताने के

लिए था भी क्या !

सुबह भैया बस के लिए घर से निकले, उस समय मां सो रही थीं। काफ़ी रात गये वे सो पायी थीं, इसी से उन्हें जगाया नहीं गया था।

जाते हुए कमरे में चुपचाप बुलाकर उन्होंने मुझे एक लिफाफा पकड़ाया था। 'रात देर तक सो नहीं सका था। काफी बातें इकट्ठा हो गयी थीं मन में। तू पढ़कर फाड़ देना, शायद तेरे संदूक में भी यह सुरक्षित न रहे···और यह है तेरी भाभी की फोटो।'

मैंने झपटकर फोटो उठा ली थी। एक भरा-भरा चेहरा और दो हंसती हुई आंखें। मौसी की ब्यूटी-परेड में खड़ी होतीं, तो शायद फेल हो जातीं, पर कुल मिलाकर मुझे अच्छी लगीं।

'कितनी स्वीट हैं न ! क्या नाम है, भैया?'

'वेला।'

'ओ लवली !'

'ये लोग पंजाबी क्रिश्चियन्स हैं।'

भैया की इस घोषणा से मेरी खुशी वहीं जम गयी।

'क्यों ? बुरा लगा सुनकर ?'

'अपने लिए नहीं। मैं मां के लिए सोच रही थी।'

'मुझे मालूम था, मां नाराज होंगी। मैं अपने को उस विस्फोट के लिए तैयार करके आया था। लेकिन बिना कुछ जाने उन्होंने जो उपेक्षा बरती है, वह बहुत तकलीफदेह है।'

'भैया, रिक्शा ले आया हूं। चल रहे हैं न ?'

हरि भैया कमरे में आये और भैया ने चेहरे पर फैलती उदासी की चादर को एकदम समेट लिया। दोनों भाई एक-दूसरे के कंधों पर झूलते हुए स्कूटर की ओर चले गये। मैं डबडबायी आंखों से उस ओर देखती रही। भैया पिछले छह सालों से बाहर थे। मेडिकल उन्होंने ग्वालियर से ही किया था और वहीं अब हाउस जॉब भी कर रहे थे। पर कभी उनके जाने का इतना दुःख नहीं हुआ। इस बार पता नहीं क्यों ऐसे लगा, जैसे वे हमेशा के लिए जा रहे हों।

•

मौसी की पैनी दृष्टि सारे घर को नापे रहती है। भैया के जाते ही बोलीं, 'आज तो बड़ी प्राइवेट बातें हो रही थी। क्या कह रहा था मनीष ?'

'भाभी की फोटो दिखा रहे थे।' मैंने तुनककर कहा।

भैया ठीक ही कह रहे थे, इस घर मे जरा प्रायवेसी नही है।

'कहां है फोटो, दिखाना जरा ? इतना घुन्ना लडका है ! दो दिनों में मैंने बीस बार पूछा होगा, पर मुझे जरा सुराग नही दिया उसने।'

'मेरे कमरे में आकर देख लेना फोटो।' मैंने कहा और अपने कमरे में चली आयी। मेज़ पर शिव-पार्वती का एक फोटो था। वह चंदन के फ्रेम मे मेरे लिए सुपर्णा मैसूर से लायी थी। मैंने उसी मे वह फोटो सजा दिया। लडकी बहुत सुन्दर नही थी, उसके क्रिश्चियन होने की बात सुनकर दु.ख भी हुआ था, पर मन-ही-मन एक निर्णय ले लिया था कि मुझे भैया का साथ देना है, उनका बचाव करना है। इसी निश्चय के बल पर मैं घर में उठते तूफान का सामना कर सकी, सहेलियों के बीच गर्वोन्नत होकर इस अंतर्जातीय विवाह की सूचना दे सकी।

मां की प्रतिक्रिया तो अपेक्षित ही थी। वे दिनभर बेहोश होती रही, लेकिन मौसी बहुत ही जल्दी सभल गयी और मा को सात्वना भी देने लगी। उनकी आलोचना का तीखापन परिचित था, पर उनकी यह समझ-दारी···लगा, जैसे भीतर-ही-भीतर वे भैया के इस विवाह से प्रसन्न हैं। कौन जाने ?

दिनभर उधेड़बुन मे पत्र को हाथ भी नही लगा पायी। मौसी के देख लेने का अंदेशा बराबर बना रहता। रात को मा के सो जाने के बाद ही खोल सकी।

पत्र क्या था, यादों का एक लम्बा सिलसिला। नैरोबी के सुहावने दिनो की ढेरों स्मृतियां थी। नैरोबी जहा पापा थे, सुनीता दीदी थी, सुख था, संपन्नता थी, ठहाके थे, किलकारियां थी। यहा आने के बाद वे सारी स्मृतियां मुहरबन्द करके रख दी गयी थी; क्योंकि उनसे मा को तकलीफ होती थी। पता नही, किस संजीवनी से भैया ने उन्हे अपने मन के भीतर यों तरो-ताजा रखा हुआ था। मैं तो सब भूलभाल गयी थी। दस साल पुरानी बातें थी। एक सात-आठ साल की लडकी याद भी क्या रख

पाती।

भैया ने लिखा था—मां का दु:ख बहुत बड़ा था, मैं मानता हूं। पर अपने शोक से उबरकर उन्होंने क्षणभर को तो हम बच्चों का खयाल किया होता। जिन्हें काल यूं निर्ममता से छीन ले गया था, वे क्या सिर्फ़ उनके पति थे, हमारे पिता नहीं थे? सुनीता क्या हमारी कोई नहीं थी? क्या हमारी उम्र मृत्यु को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार करने की थी?

चाहिए तो था कि मां अपनी ममता का आंचल कुछ और फैलाकर पापा का भी स्थान ले लेतीं, पर वे तो मां भी नहीं रह पायीं। इस पराये देश में, पराये घर में, पराये हाथों में हमें छोड़कर निश्चिंत हो गयीं। 'पराया' शब्द शायद तुम्हें ठीक न लगे। मीता, मौसी लाख उनकी बहन थीं, पर हम उन्हें कितना जानते थे!

हर बार, हर काम के लिए उनका मुंह जोहना मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। फीस के लिए, कपड़ों के लिए, किताबों के लिए उनके आगे हाथ फैलाते हुए मेरी आत्मा को कष्ट होता था। उन्होंने कभी किसी चीज़ के लिए मना नहीं किया, क्योंकि जो पैसा खर्च हो रहा था, वह हमारा था; फिर भी मेरा संकोच कभी नहीं टूटा। मां किसी चीज़ के लिए झिडक भी देतीं, तो मुझे इतना दु:ख नहीं होता। इस सिर-दर्द से बचने के लिए ही मैंने ग्वालियर में दाखिला लिया था। रोज़-रोज़ अपने स्वाभिमान की हत्या मैं नहीं कर पाता था।

मौसी ने हम लोगों के लिए बहुत किया है। मेरी परीक्षा के दिनों में वे रात-रातभर मेरे लिए चाय बनाती रही हैं। सुबह-सवेरे अलार्म लगा-कर मुझे जगाती रही हैं। मेरे लिए उन्होंने स्वेटर बुने हैं, पिकनिक के लिए खाना बनाकर दिया है, मेरी बीमारी में दिन-रात मेरी सेवा की है। पर उनकी इस ममता के भीतर ईर्ष्या की एक हल्की-सी पर्त है। उसे मैं बर्दाश्त नहीं कर पाता। कई बार इच्छा होती है कि अपनी सारी अच्छाइयां किसी जादू के जोर से हरि को दे डालूं। तभी शायद इस संत्रास से मुक्ति मिले।

इसके बाद भैया ने बेला से अपने परिचय की कहानी लिखी और अंत में लिखा था—वह घर नहीं है, ज्वालामुखी है। किसी दिन तुम भी

उस गर्भगृह के बाहर आने के लिए छटपटाओगी, मीता। तब मुझे खबर करना। जहा भी रहूंगा, दौड़ा आऊंगा।

पत्र का कई-कई बार पारायण करके मैंने उसे अपने ट्रंक मे छिपाकर रख दिया। सोच लिया था कि किसी दिन मां को जरूर दिखाऊंगी। भैया के मन की अंधेरी गुफाओ मे एक बार उन्हें फेरी लगानी ही होगी, नहीं तो मा किसलिए बनी थी।

भैया के पत्र का अंतिम वाक्य मैंने मन के कागज पर अंकित कर लिया था। मेरे लिए वह दीप-स्तंभ हो गया था।

मैं और हरि भैया निश्चय कर चुके थे कि घरवालो के विरोध को ताक पर रखकर भैया के विवाह में अवश्य भाग लेंगे। पर उन्होंने हमारे इस निश्चय पर पानी फेर दिया। इस बार भी उन्होने विवेक का पल्ला नहीं छोड़ा था। शादी की सूचना तब मिली, जब आठ दिन ऊपर हो चुके थे। सूचना क्या थी, अच्छा-खासा पार्सल था। मेरे और हरि भैया के लिए दो कलाई घड़ियां थी—एच० एम० टी० की, जिनके पीछे लिखा था—'भाभी की ओर से'।

और साथ दर्जन भर लड़कियों की तसवीरें थी, जो समय-समय पर यहां से भेजी गयी थीं। भैया की सख्त हिदायत थी कि वे सारी तसवीरें सही पतों पर वापस भेज दी जाए।

मा और मौसी को अब इन कामों में कोई रस नहीं रह गया था इसलिए यह दिलचस्प काम हमी लोगों के सिर पर आ पडा। एक सुबह चाय की मेज़ पर ही हमने इस वापसी-अभियान का शुभारभ कर दिया। डायनिंग टेबल का काला टॉप किसी अलबम की तरह लग रहा था। हरि भैया बिखरे हुए फोटो मे से एक-एक चुनकर नाम और पते मिलाते जाते, मैं लिफाफो पर बड़े-बडे अक्षरों मे उन्हें लिखती जा रही थी।

आखिरी लिफाफे को सीलबद करते हुए हरि भैया बोले, 'और दो-एक साल बाद हमारी मीता की फोटो भी इसी तरह जगह-जगह भेजी जायेगी।'

'और इसी तरह लौटायी जायेगी।' मैंने उनका वाक्य पूरा करते हुए

कहा।

'लौटा कर तो देखे कोई, तबीयत दुरुस्त कर दूंगा!' और उन्होंने एक काल्पनिक मुक्का हवा में उछाल दिया।

'अरे वाह, कोई जबरदस्ती है। मान लो, तुम्हारे पास कोई दस-बीस फोटो आ गये, तो क्या सबसे शादी करोगे?'

'शादी तो खैर एक से ही करूंगा, पर तसवीरें सब संभालकर रखूंगा। बीवी ने जरा अकड़ दिखायी कि अपना अल्बम दिखाकर कहूंगा कि देवी देखो, श्रीमान हरिप्रसन्न शर्मा की अर्द्धांगिनी बनने के लिए कितनी बालिकाएं लालायित थीं।'

'तब तो और भी उसके पांव जमीन पर नहीं पड़ेंगे कि इतनी सारी लड़कियों में से उसे चुना गया है।'

'वाई री! क्यों मन के लड्डू फोड़ रही हो। साबुत हाथ-पांव की एक ही मिल जाए, तो भाग समझना। दस-बीस तो क्या आयेंगी अपने दरवज्जे।' मौसी की बात से हमारी हंसी मुंह में ही जम गयी।

मां भी नाराज हो गयीं। बोलीं, 'छोटी, तू जब करेगी, उल्टी बात करेगी। कोई मेरा लाल लंगड़ा-लूला है, जो लड़की नहीं मिलेगी?' और उन्होंने हरि भैया के गोरे गुबरैले चेहरे की बलाएं ले लीं।

'लंगड़े-लूले की क्या शादी नहीं होती, जिज्जी। शादी होना और बात है, और अच्छे खानदान से रिश्ता होना और बात। लड़कीवाले घर देखते हैं, घराना देखते हैं। कोई हमारे मां-बाप की तरह लड़की को घूरे पर नहीं फेंक देता।'

'त्वमेव केवलं हर्तासि, त्वमेव केवलं धर्तासि, त्वं सर्वं खल्विदम ब्रह्मासि।' पूजाघर से मौसाजी का गुरु-गंभीर स्वर कुछ ऊंचा ही आने लगा था। गणपति अथर्व शीर्ष का ओट लेकर वे मौसी के वाग्बाणों से बचना चाहते थे। उनकी यह जानी-पहचानी आदत थी। पर कितना बच पाते थे, वे ही जानें!

टेबल पर सारा सामान यूं ही बिखरा छोड़कर हरि भैया उठकर चल दिये थे।

मां कह रही थीं, 'पैसे से ही क्या सब सुख मिल जाते हैं। छोटी, मुझे

देख, कितना दुःख छाती में छिपाये बैठी हूं। पति तो भाग्य ने छीन लिया, बेटे को पता नहीं कौन कहां की लड़की मोह कर ले गयी। अब इस घर को, घराने को ओढ़ूं कि बिछाऊं! तेरे साथ तो तेरा सब-कुछ है। उनकी बदौलत तू सिर उठाकर तो चल सकती है, फिर क्यों उस देवता आदमी की आत्मा जलाती है?'

'मेरी आत्मा जलेगी, तो मुंह पर बात आयेगी ही। राजकुमार-सा मेरा लड़का किसी लायक नहीं बन सका। भोग-राग बस ठाकुरजी के आगे घंटी भर बजाना जानते हैं।'

इतनी खीज! इतनी ऊब हो आयी मुझे। पता नहीं, इन दोनों बहनों को अपने दुःखों से इतना लगाव क्यों है? खुद भी रोयेंगी, साथवालों की जिंदगी भी जहर करके रख देंगी।

पूजाघर से अब विष्णुसहस्रनाम सुनाई दे रहा था।

'हरि भैया, चलिए, 'घर-घर की कहानी' देख आएं। वीणा कह रही थी, खूब अच्छी पिक्चर है।' मैंने भाभी की तरह उनके कमरे में प्रवेश करते हुए कहा।

'अपने घर की कहानी से भी क्या अच्छी होगी!' वे पुस्तक में आंखें गड़ाये ही विषण्ण स्वर में बोले।

'बेकार की फिलॉसफी तो मत झाड़िए, चलिए न! लौटते हुए कविता के यहां होते आयेंगे। मुझे अपनी चोलियां लेनी हैं।'

मेरी सहेलियों के नाम से खिल उठनेवाला उनका चेहरा वैसा ही सख्त बना रहा। वे पूर्ववत् पुस्तक के पन्ने पलटते रहे।

'चलिए भी। हमारे साथ कोई नहीं है, इसी से इतनी खुशामद कर रहे हैं। आप साहब, ज्यादा ही नखरे करते जा रहे हैं।' और मैंने पुस्तक छीनकर परे फेंक दी।

'मैं कोई तुम्हारा बॉडीगार्ड हूं, जो हर जगह तुम्हारे साथ चिपटता फिरूंगा। प्लीज, मेरे कमरे से दफा हो जाओ।'

. वे आंखें! वह चेहरा! वह आवाज! चाहिए तो था कि क्रोध से मेरा तन-बदन जल उठता, पर विस्मय और दुःख से भरकर मैं फटी-फटी आंखों

से उन्हें निहारती रह गयी। पांव मन-मन भर के होकर वहीं जम गये। किसी तरह अपन को ठेलकर मैं दरवाज़े तक ले तो गयी, पर उतनी देर वाद उस जाने में कोई प्रतिष्ठा नहीं रह गयी थी।

'सॉरी, मीता!'

मैं अनचाहे ही ठिठककर रह गयी।

'मुझे वहुत अफसोस है, मीता। इस तरह तुम्हें जलील करने का मुझे कोई हक नहीं था। इस कमरे पर मेरा अधिकार ही क्या है। यह कमरा, यह घर···ये सब तुम्हारा ही तो है। हम तो केवल···क्या हैं हम लोग, यही समझ नहीं आता। नौकरों की भी अपनी कुछ औकात होती है। लेकिन हम तो सिर्फ···पैरासाइट्स हैं।'

सॉरी होना क्या इसे ही कहते हैं?

उसके वाद वहां रुकना संभव ही नहीं था। सीधे अपने कमरे में आ-कर विस्तर में पड़ रही। दुःख, अपमान, रोप, ममता—सव-का-सव सिमट आया था मन में।

तीन-चार साल पुराना एक प्रसंग याद आ गया। हरि भैया का हायर सेकंडरी का परिणाम आया था। वेचारे जनता क्लास में पास हुए थे। मां कह-कहकर हार गयीं, पर मौसी ने सवा रुपये के लड्डू भी नहीं वांटे। दो साल पहले ही मनीष भैया के पास होने पर मिठाई, पार्टी और वधाई-पत्रों की कितनी धूमधाम लगी रही थी। भैया मेरिट लिस्ट में चौथे नंवर पर आये थे। उसके मुकावले में हरि भैया का परिणाम सचमुच फीका था, पर मौसी के वाग्वाणों ने तो उसे करुण वना दिया था। आखिर मां ने ही डांटा था, 'चुप कर, छोटी। तेरी वातों से तंग आकर लड़का कहीं नदी-कुआं कर वैठेगा, तो ज़िंदगी भर को रोती रहेगी।'

तव कहीं मौसी का अनवरत भाषण समाप्त हुआ था।

शाम की आरती के वाद मौसाजी ने मुझे पूजाघर में बुलाकर मेरे हाथ पर दो पेड़े रखे थे, 'ये मेरे वेटे के पास होने की मिठाई है, विटिया। गरीव आदमी हूं न! ज्यादा जश्न तो नहीं मना सकता।'

सातवी-आठवीं क्लास की वेवकूफ-सी लड़की थी मैं। उनकी वात का

मतलब नहीं समझ सकी। पर उनकी आखों की पीड़ा, उनके स्वर का वात्सल्य मुझसे छिपा नही रहा।

वह थोड़ी-सी मिठाई लिये मैं प्रतीक्षा मे बैठी रही। बहुत रात गये लौटे थे हरि भैया। आकर छत पर अपने बिस्तर पर चुपचाप लेट गये थे। मैंने दबे पांव जाकर पेड़ा उनके मुह मे ठूंस दिया था।

'क्या है यह ?' वे हड़बड़ाकर उठ बैठे थे।

'मिठाई है।'

'किस बात की मिठाई ?' उन्होने भरी हुई आवाज़ मे पूछा।

'एक हमारे हरि भैया हैं, उनके पास होने की।' मैंने शरारत से आखें नचाकर कहा।

कुछ क्षण वे चुप रहे, फिर बोले, 'किसने बाटी है ?'

'मौसी ने।'

'मेरे सिर पर हाथ रखकर कहो।'

कैसे कहती ! चुप होकर रह गयी।

'बाबूजी ने अपने ठाकुरजी को भोग लगाया होगा। ठीक है न ! अपने नालायक बेटे के पास होने की खुशी सिर्फ वे ही मना सकते हैं।'

और फिर एकाएक उनका चेहरा तमतमा उठा था, 'क्यों आये थे तुम लोग यहा ! क्या उतने बड़े अफ्रीका मे तुम लोगों के लिए जगह नही थी ! आते ही तुम लोगों ने मेरा घर, मेरी मा, मेरा सुख—सब-कुछ छीन लिया···छोटा-सा घर था हमारा। पर उस घर मे मैं राजकुमारों की तरह पलता था। उस समय मेरी हर इच्छा पर अम्मा बिछ-बिछ जाती थीं। उस समय मैं उनकी आखों का तारा हुआ करता था···और अब, अब दुनिया मे बस एक ही नाम रह गया है, मनीष-मनीष-मनीष।'

और पलंग की पाटी पर सिर रखकर वे सिसक-सिसककर रो पड़े थे।

छोटी थी मैं उस समय, पर नारी की सहज ममता ने उम्र का व्यवधान कब माना है। उनके आसू सोख लिये थे मैंने, उनका दर्द बाट लिया था। तब से उनकी हर व्यथा को अपने संपूर्ण संवेदन के साथ जीने की जैसे मेरी आदत हो गयी थी। अधिकार हो गया था।

और इस अनाम रिश्ते की पृष्ठभूमि पर आज उनका यह व्यंग्य कैसी
: कर गया था ! भीतर तक तिलमिला उठी थी मैं।

सरे पहर मैं अपनी बुनाई लेकर छत पर बैठी हुई थी। हरि भैया पास आकर ऐसे बैठ गये, जैसे कुछ हुआ ही न हो। मैं भी जान-बूझकर दों के उलटफेर में उलझी रही।

'मीता !'

'हूं।'

'मेटिनी तो अब शायद नहीं मिलेगा। फर्स्ट शो में चलोगी ?'

'नहीं, रहने दो।'

'यानी कि नाराज हो गयी, यही न। ठीक तो है, इस घर में हर एक को नाराज होने का अधिकार है, सिवाय मेरे।'

'नाराज होने की बात नहीं है, हरि भैया ! बस, मूड नहीं रहा।' मैंने कुछ तल्खी के साथ कहा। वे चुप हो गये।

फिर कुछ देर बाद बोले, 'अच्छा चलो, नेहरू पार्क चलते हैं। वहां से लौटते हुए किशन के यहां चलेंगे। उसकी मां तुम्हें बहुत याद करती हैं।'

'आज रहने दो।'

'अच्छा तो तुम्हारी कविता के यहां चले चलते हैं। या फिर वह कौन है अपर्णा-सुपर्णा, उसके यहां हो आते हैं।'

'कहा तो भई कि मुझे कहीं नहीं जाना है।' मैंने खीजकर कहा। वे फिर चुप हो गये और इस बार उनके चेहरे पर एक अजीब-सी असहायता उतर आयी। मेरे रूठ जाने का दुःख उन्हें साल रहा था। परंतु मुझे मनाने का कोई उपाय भी वे खोज नहीं पा रहे थे। उनकी उदास डबडबायी आंखों को मैं अधिक देर तक नहीं सह पायी। अपने स्वर को यथाशक्ति नरम बनाकर मैंने कहा, 'सच कहूं हरि दा, आजकल किसी के घर जाने की इच्छा ही नहीं होती। कहीं भी जाती हूं, तो तुलना में अपना घर उभरकर सामने आ जाता है। सोचती हूं, इतने अभाव में, दुःख में भी ये लोग खुश कैसे रह लेते हैं ! दुनिया भर की मनहूसियत हमां ही यहां क्यों है। कविता की मां छह महीने से खाट पर पड़ी है। सुपण

का इतना बड़ा परिवार इतनी-सी आय के सहारे चल रहा है। तुम्हारे किशन के यहां तीन-तीन अनव्याही बहनें बैठी हुई हैं, फिर भी इन लोगों के यहा कुछ ऐसा है, जो मन को बांध लेता है। जाती हूं, तो लौटने की इच्छा ही नहीं होती। और यहां तो हरदम भाग जाने का मन होता है।'

'इसमें आश्चर्य की क्या बात है। यह कोई रहने की जगह थोड़े ही है। यह तो कब्रिस्तान है। यहां आदमी नहीं रहते, उनकी छाया रहती है। अपने-आपको दफना कर उन पर पत्थरों की तरह जड़ी हुई ये छाया भर हैं।'

'छि., क्या नवकवियों जैसी उपमाएं दे रहे हो। क्या इससे अच्छी कोई बात तुम्हारे दिमाग नहीं में आती।'

मैं कॉमर्स का विद्यार्थी, उपमा-उत्प्रेक्षा क्या जानूं ! जैसा सोचता हूं, कह डाला। और तुम जानती हो मीता, कब्रिस्तान में भी कभी-कभी कोई प्यारा-सा पेड़ उग आता है। अपने सिर पर ढेर सारे खुशबूदार फूलों का मुकुट धारण किये हुए यह अनोखा पेड़ वातावरण की उदासी को सुगंध में भिगोता रहता है। इस पेड का नाम जानती हो ?'

मैंने प्रश्नार्थक दृष्टि से उन्हें देखा। उनकी आंखों में उस फूल का नाम पढ़ लिया मैंने।

इसके बाद भी रूठे रहना क्या संभव था।

'मीता !' थोड़ी देर बाद वे बोले, 'तुम्हें वह जूनी कसेरा बाखलवाला हमारा घर याद है ?'

'नहीं तो।'

'कभी-कभी वह घर बहुत याद आता है। उस घर के साथ कितना कुछ छूट गया है···तुम्हें याद है मीतू, तुम लोग आये थे न तब, तुम दिन भर कहा करती थी—यह घर गंदा है, हमें यहां नहीं रहना।'

'मैं बहुत छोटी थी न उस समय।' मैंने अपराधी स्वर में कहा।

'हां, तुम बहुत छोटी थी, इसीलिए मन की बात कह सकीं। जो बात मनीष भैया और मौसी अनुभव करके रह जाते थे, वह तुम बेझिझक कह डालती थीं। धीरे-धीरे सबको लगने लगा कि वह घर छोटा है, गंदा है। अम्मा को भी...और तब से इस मनहूस कोठी से बंध गये हैं हम।'

'यह घर क्या शुरू से ही ऐसा मनहूस लगता रहा होगा !' मैंने विस्मय में भरकर कहा।

'क्या पता ! तब इतना समझने की अक्ल कहां थी ! इतना याद है, बाबूजी यहां नहीं आना चाहते थे। सालभर तक वे पुराने मकान का किराया भरते रहे···पर अंत में उन्हें भी हथियार डाल देने पड़े। वे मुझसे अलग होकर नहीं रह सकते थे, मैं अम्मा के बिना नहीं रह पाता था। और अम्मा ! उनके लिए इतना बड़ा घर, इतने सारे नौकर, इतना ऐश्वर्य, इतनी हकूमत छोड़ना बहुत कठिन हो गया था। वैभव की इस दौड़ में मैं और बाबूजी कब पीछे छूट गये, पता ही नहीं चला। बाबूजी के पास तो फिर भी उनके ठाकुरजी हैं, लेकिन मैं क्या करूं ! अपने निष्प्रयोजन जीवन का क्या करूं ?'

'तुम्हें क्या हो गया है आज ! कैसी ऊटपटांग बातें कर रहे हो जब से।'

'मां की नजरों में जो बेटा घूरे से भी गया-बीता हो गया हो, उससे अच्छी बातों की तो अपेक्षा नहीं की जा सकती।'

ओह, अब समझी। सुबह वाली बात फांस की तरह चुभ रही है मन में अब तक।

मैंने अपने स्वर में ढेर-सी ममता उंडेलकर कहा, 'मौसी की बातों का बुरा मानने चलेंगे, तो हो चुका। दिन भर मातम ही मनाना होगा। जानते तो हो उनकी आदत।'

'जानने से ही क्या पत्थर बना जा सकता है ? हाड़-मांस का मनुष्य जितना सह सकता है, उतना ही तो सह पाऊंगा। सच कहता हूं मीतू, पढ़ते हुए भी कभी-कभी इसी खयाल से कांप उठता हूं कि क्या होगा इतनी मेहनत का। अम्मा को खुश करने लायक परिणाम तो मेरा कभी बन नहीं सकता। तब फिर हफ्तों तक पुस्तक को हाथ लगाने की इच्छा नहीं होती।'

पुरुष जब भीतर से टूटने लगता है, तो नारी का सहज स्नेह ही उसे संबल दे पाता है। इसी स्रोत से वह शक्ति ग्रहण करता है। नारी चाहे वह मां हो, पत्नी हो, बहन हो, मित्र हो...

कहां पढ़ा था यह कथन ! किसी नाटक में। उपन्यास में ? [illegible]

भैया के पत्र में। कहीं भी पड़ा हो, आज इस बेला उसका स्मरण हो आना ही सार्थक हो उठा था।

उस बार बी० कॉम० में हायर सेकंड क्लास पाने पर जब मैंने उनका अभिनंदन किया, तो बोले, 'अभिनंदन की असली हकदार तो तुम हो। परिणाम का सारा श्रेय तुम्हीं को जाता है।'

शनिवार की शाम को मैं हमेशा की तरह पूजाघर में बैठी सुंदर कांड का पाठ कर रही थी। पैरों की आहट सुनकर सिर उठाया, मौसाजी नहा-कर शाम की संध्या-वंदना के लिए अंदर आ गये थे। मेरी उपस्थिति से निर्लिप्त होकर उन्होंने सूती धोती उतार खूंटी पर टंगी लाल रंग की रेशमी धोती पहनी। आसन लेने के लिए इस ओर मुड़े, तो मुझे एकटक अपनी ओर देखते हुए पाया। अपनी झेंप मिटाते हुए बोले, 'कहिए पंडितानीजी, क्या निरीक्षण हो रहा है?'

'निरीक्षण यह हो रहा है कि इस पूजावाली धोती का काफी पहले रिटायरमेंट हो जाना चाहिए था।' मैंने दबंग स्वर में कहा।

'एक बार और कायाकल्प कर दो इसका। अब की तनखा मिलने पर पहला काम यही करूंगा, ठीक है न!'

मैंने सिर हिला दिया। वे आसन पर बैठ गये। आचमन लेकर ध्यानस्थ होने को ही थे कि सहसा मुझे कुछ याद आ गया, 'मौसाजी, आज आपके वे तिवारीजी आये थे। गोरखपुर से किताबें मंगायी थीं न आपने, वे दे गये हैं।'

'अच्छा? कब लौटे वे लखनऊ से?'

'कल ही आये हैं। और कह रहे थे—शर्माजी से कहना, मेरी मिठाई तैयार रखें। दफ्तर में पार्टी दे देने से ही आप बच नहीं जायेंगे।'

एक शर्मीली मुसकान उनके चेहरे पर तैर गयी।

'अच्छा मौसाजी, दफ्तर में तो आपने प्रमोशन की पार्टी दे दी और हमें बताया तक नहीं। चाहिए तो था कि सबसे पहले घर में मिठाई आती।' मैंने मुंह फुलाकर कहा।

'घर में बतलाने जैसी कोई बड़ी बात नहीं थी, बिटिया। मेंढक कितना

'यह घर क्या शुरू से ही ऐसा मनहूस लगता रहा होगा!' मैंने विस्मय में भरकर कहा।

'क्या पता! तब इतना समझने की अक्ल कहां थी! इतना याद है, बाबूजी यहां नहीं आना चाहते थे। सालभर तक वे पुराने मकान का किराया भरते रहे···पर अंत में उन्हें भी हथियार डाल देने पड़े। वे मुझसे अलग होकर नहीं रह सकते थे, मैं अम्मा के बिना नहीं रह पाता था। और अम्मा! उनके लिए इतना बड़ा घर, इतने सारे नौकर, इतना ऐश्वर्य, इतनी हकूमत छोड़ना बहुत कठिन हो गया था। वैभव की इस दौड़ में मैं और बाबूजी कब पीछे छूट गये, पता ही नहीं चला। बाबूजी के पास तो फिर भी उनके ठाकुरजी हैं, लेकिन मैं क्या करूं! अपने निष्प्रयोजन जीवन का क्या करूं?'

'तुम्हें क्या हो गया है आज! कैसी ऊटपटांग बातें कर रहे हो जब से।'

'मां की नजरों में जो बेटा घूरे से भी गया-बीता हो गया हो, उससे अच्छी बातों की तो अपेक्षा नहीं की जा सकती।'

ओह, अब समझी। सुबह वाली बात फांस की तरह चुभ रही है मन में अब तक।

मैंने अपने स्वर में ढेर-सी ममता उंडेलकर कहा, 'मौसी की बातों का बुरा मानने चलेंगे, तो हो चुका। दिन भर मातम ही मनाना होगा। जानते तो हो उनकी आदत।'

'जानने से ही क्या पत्थर बना जा सकता है? हाड़-मांस का मनुष्य जितना सह सकता है, उतना ही तो सह पाऊंगा। सच कहता हूं मीतू, पढ़ते हुए भी कभी-कभी इसी खयाल से कांप उठता हूं कि क्या होगा इतनी मेहनत का। अम्मा को खुश करने लायक परिणाम तो मेरा कभी बन नहीं सकता। तब फिर हफ्तों तक पुस्तक को हाथ लगाने की इच्छा नहीं होती।'

पुरुष जब भीतर से टूटने लगता है, तो नारी का सहज स्नेह ही उसे संबल दे पाता है। इसी स्रोत से वह शक्ति ग्रहण करता है। नारी चाहे वह मां हो, पत्नी हो; बहन हो, मित्र हो...

कहां पढ़ा था य [illegible] मी नाटक में! [illegible] में? [illegible]

भैया के पत्र में। कहीं भी पढ़ा हो, आज इस वेला उसका स्मरण हो आना ही सार्थक हो उठा था।

उस बार बी० कॉम० में हायर सेकंड क्लास पाने पर जब मैंने उनका अभिनंदन किया, तो बोले, 'अभिनंदन की असली हकदार तो तुम हो। परिणाम का सारा श्रेय तुम्हीं को जाता है।'

शनिवार की शाम को मैं हमेशा की तरह पूजाघर में बैठी सुंदर कांड का पाठ कर रही थी। पैरों की आहट सुनकर सिर उठाया, मौसाजी नहा-कर शाम की संध्या-वंदना के लिए अंदर आ गये थे। मेरी उपस्थिति से निर्लिप्त होकर उन्होंने सूती धोती उतार खूंटी पर टंगी लाल रंग की रेशमी धोती पहनी। आसन लेने के लिए इस ओर मुड़े, तो मुझे एकटक अपनी ओर देखते हुए पाया। अपनी झेंप मिटाते हुए बोले, 'कहिए पंडितानीजी, क्या निरीक्षण हो रहा है?'

'निरीक्षण यह हो रहा है कि इस पूजावाली धोती का काफी पहले रिटायरमेंट हो जाना चाहिए था।' मैंने व्यंग स्वर में कहा।

'एक बार और कायाकल्प कर दो इसका। अब की तनखा मिलने पर पहला काम यही करूंगा, ठीक है न!'

मैंने सिर हिला दिया। वे आसन पर बैठ गये। आचमन लेकर ध्यानस्थ होने को ही थे कि सहसा मुझे कुछ याद आ गया, 'मौसाजी, आज आपके वे तिवारीजी आये थे। गोरखपुर से किताबें मंगायी थीं न आपने, वे दे गये हैं।'

'अच्छा? कब लौटे वे लखनऊ से?'

'कल ही आये हैं। और कह रहे थे—शर्माजी से कहना, मेरी मिठाई तैयार रखें। दफ्तर में पार्टी दे देने से ही आप बच नहीं जायेंगे।'

एक शर्मीली मुसकान उनके चेहरे पर तैर गयी।

'अच्छा मौसाजी, दफ्तर में तो आपने प्रमोशन की पार्टी दे दी और हमें बताया तक नहीं। चाहिए तो था कि सबसे पहले घर में मिठाई आती।' मैंने मुंह फुलाकर कहा।

'घर में बतलाने जैसी कोई बड़ी बात नहीं थी, बिटिया। मेंढक कितना

भी फूल जाए, बैल तो बनने से रहा। दफ्तर का बाबू हूं, प्रमोशन हो गया तो बहुत-से-बहुत ओ० एस० बनूंगा और क्या!'

हंसकर ही कही थी उन्होंने यह बात, लेकिन उसमें छलकती हुई व्यथा को मैंने पा लिया और मैं भी उदास हो आयी। सुख में हो या दुःख में, मनुष्य को सबसे पहले घर ही याद आता है। कैसे जब्त कर पाये होंगे इतनी बड़ी खुशी को वे मन-ही-मन में! तिवारीजी बता रहे थे, दफ्तर में उन्होंने बहुत शानदार दावत दी थी। बाहर की दुनिथा में जो इतना लोकप्रिय है, उसका अस्तित्व घर में इतना नगण्य क्यों है। मुझे तो कई दिनों तक यह भी नहीं पता था कि वे दफ्तर भी जाते हैं। उनके ऑफिस आने-जाने को लेकर घर में कोई गहमागहमी नहीं होती थी। जूनी केसरा बाखलवाले घर की एक धुंधली-सी याद है कि मौसाजी बाहर से लौटे हैं, तो मौसी ने आगे बढ़कर हाथ से झोला लिया है। उनके लिए चाय बनायी है, उनके लिए पान लगाया है। अब तो मौसी के पास इतना समय ही कहां है। मिसरानी है, रामदीन है, वे ही सब देखभाल लेते हैं।

प्राणायाम की मुद्रा में बैठे मौसाजी पौराणिक चित्रों के शिव की तरह लग रहे थे। ठाकुरजी के पास जलते हुए दीपक का मंद प्रकाश उनके सुदर्शन व्यक्तित्व को रहस्यमय बनाये दे रहा था।

रहस्यमय ही तो थे वे। कितना जानते थे हम लोग उनके विषय में! घर से बाहर की दुनिया में उनका क्या रूप था, कभी जाना ही नहीं।

पिछली साल की एक बात याद आयी। नया-नया कॉलेज था, नयी-नयी सहेलियां थीं। सबसे ज्यादा अच्छी लगी थी मधूलिका। श्रीनगर कॉलोनी में बड़ा-सा बंगला था उसका। रोज़ गाड़ी छोड़ने आती थी, लेकिन बातचीत में अमीरी की जरा भी बू नहीं थी। बहुत जल्दी घुल-मिल गयी थीं हम दोनों। दो-चार बार उसके घर हो आने पर मैंने उसे अपने घर भी आमंत्रित किया था। तीन-चार घंटे तक गपशप की महफिल जमने के बाद जब वह जाने को हुई, तो मैं फाटक तक उसे छोड़ने गयी थी।

उसी समय मौसाजी अपनी साइकिल लिये दफ्तर से लौट रहे थे।

'अच्छा, तो ये पंडितजी तुम्हारे यहां भी आते हैं?' मधूलिका ने पूछा।

'कौन-से पंडितजी ?'

'यही जो अभी अंदर गये। हमारे पीछे सर्वेंट्स क्वार्टर्स हैं न वहां हर रविवार को इनका चक्कर लगता है। खूब भक्तिनें जोड़ रखी हैं। दो-दो घंटे तक भविष्य बाचते रहते हैं। यू नो, ही इज ए लेडी-किलर।'

इससे ज्यादा मुझसे सुना नहीं गया था, 'मधु, ही इज माय···वे मेरे मौमाजी हैं। ज्योतिष बहुत अच्छा जानते हैं और किसी से कुछ लेते भी नहीं। तुम तो जानती हो, ऐसे लोगों के लिए हिंदुस्तान में भक्तों की कमी नहीं रहती।'

सॉरी नमिता, मुझे मालूम नहीं था।' मधु ने झेंपते हुए कहा था। बात आयी-गयी हो गयी थी, पर जब भी मधु को देखती, वही बात याद आ जाती। क्या वह सच कह रही थी ? ऐसा होना असम्भव भी तो नहीं है ? मनुष्य ही तो हैं आखिर वे। कहीं तो उनके अहं की तुष्टि होनी चाहिए। पत्नी द्वारा निरंतर लांछित और अपमानित व्यक्तित्व को कहीं तो सिर उठाने का अवसर मिलना चाहिए। नहीं तो कोई जियेगा कैसे !

'बिटिया !'

'जी ?' मैंने चौंककर कहा।

'पाठ कर रही हो न !'

'कर तो रही हूं। आपने बीच में टोक दिया।'

'तुम कर नहीं रही थी, इसीलिए टोका था। पता है, तुम कितनी देर से एक ही पन्ना खोले बैठी हो।'

'आज मन ही नहीं लग रहा।' और मैंने रामायण बंद करके रख दी।

'मन अपने से लगता थोड़े ही है, उसे तो कान पकड़कर लगाना पड़ता है।' और उनकी इस बात पर हम दोनों ही हंस पड़े।

'बिटिया !' वे एकाएक गंभीर होकर बोले।

'कहिए।'

'अपना मन अच्छे से टटोलकर देखा है तुमने ? तुम कहोगी, तो अब भी सारा आयोजन उखाड़कर फेंक सकता हूं। बुराई जो भी आनी होगी, मेरे सिर आयेगी, तुम चिंता मत करो।'

'आप पता नहीं, क्या कह रहे हैं।'

'यह मत सोचो मीता बेटी, कि मैं भी तुम्हारी मौसी की तरह अंधा हो गया हूं। मेरी आंखें सब कुछ देखती हैं। तुम एक बार संकेत भर कर दो, फिर देखो मैं क्या करता हूं।'

'मौसाजी, आप तो गलत-सलत पता नहीं, क्या सोच लेते हैं।' मैंने बेसुरी खिलखिलाहट के साथ कहा और बाहर भाग आयी। पूजाघर के बाहर खड़ी होकर पहले अपनी उफनती सांस को सामान्य किया, फिर धीरे-धीरे मां के कमरे की ओर चल पड़ी।

हॉल में मौसी रंग-बिरंगे कपड़ों का अंबार लेकर बैठी थीं।

'ऐ छोकरी, कहां थी अभी तक?'

'शनिवार की शाम को मैं क्या करती हूं, मालूम है न।'

'हां, सो तो सब मालूम है। एक वो नरसी भगत कम थे घर में! अब ये एक मीराबाई बनी जा रही है।'

'काम क्या है, बोलो न!'

'काम क्या एक है, इन साड़ियों पर फाल लगाने हैं। इनमें मोती टांकने हैं, इनमें गोटा लगेगा, इन पर फूल लगेंगे...'

'एक दर्जी बिठा लो न घर में, चुटकी में सब काम हो जाएगा।' मैंने बेजारी से कहा।

'दर्जी तो बिठा लूं, पर फिर तू नेग किस बात का लेगी बता तो। बहन-बेटी के यही तो काम होते हैं। और यह कार्डों का डिब्बा ले जा। सब नमूने देखकर, छांटकर अच्छा-सा ब्लॉक बनवा दे...तेरे मौसाजी कहां हैं?'

'पूजा में।'

'बस, और किया ही क्या है जिंदगी भर। उनसे कहो कि जल्दी से फैक्टरी चले जाएं। आज के दिन लड़का जरा जल्दी घर आ जाता, तो टेलर के यहां हो आता। सूट का ट्रायल लेना है। दिनभर तो फैक्टरी में चला जाता है...'

फैक्टरी-फैक्टरी-फैक्टरी...सुन-सुनकर मेरे कान पक गये हैं। वेडिंग कार्ड्स का डिब्बा उठाकर मैं मां के कमरे में आकर बैठ गयी। अपने कमरे

में जाते हुए डर लगता है। अकेलेपन में कभी-कभी कितने ऊटपटांग विचार आते हैं।

मौसी की तेज आवाज यहां तक आ रही है। शायद फैक्टरी में फोन किया जा रहा है। फैक्टरी—द शर्मा स्टील वर्क्स। प्रोप्रायटर एण्ड जनरल मैनेजर श्री हरिप्रसन्न शर्मा, बी० कॉम०। उद्घाटन के फोटोज का अच्छा-खासा अल्बम तैयार हो गया है। कोई स्थानीय अखबार नहीं बचा होगा, जिसमें फोटो नहीं छपे होंगे। अविवाहित, युवा, मेधावी जनरल मैनेजर की प्रशंसा में किराये से लेख लिखवाये गये थे। समझ में नहीं आ रहा था कि इतनी प्रचार की आखिर क्या जरूरत थी।

लेकिन मौसी की दूरदर्शिता का लोहा मानना पड़ा, जब धड़ाधड़ वधु-पिताओं के पत्र आने प्रारंभ हुए। हर पत्र के आने पर बाकायदा सिलेक्शन कमेटी बैठती। लाभ और हानि की मदों पर विचार-विनिमय होता। मौसाजी हमेशा की तरह तटस्थ बने रहते।

संभावित पुत्रवधुओं की चित्र-प्रदर्शनी में एक दिन परिचित चेहरा भी सम्मिलित हो गया और मौसी ने निर्णय ले ही लिया। वह चित्र था सुलक्षणा पाठक का।

यद्यपि रिटायर होने के बाद जज साहब का वैभव पहले का-सा नहीं था, फिर भी यह रिश्ता और सबसे बेहतर था। मौसी का एक चिरसंचित स्वप्न पूरा हो गया था कि हरि के लिए भी ढेर-सारे रिश्ते आये थे। सुलक्षणा को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा था, 'उसने यही देहरी पूज रखी होगी, तभी तो अब तक कुंवारी बैठी है।'

शायद ठीक ही कह रही होंगी वे।

'क्या कर रही है, मीता ?' मां के पलंग से क्षीण स्वर में प्रश्न आया।

'निमंत्रण-पत्र का मसौदा बना रही हूं।' मैंने ठंडे स्वर में जवाब दिया।

'तेरी मौसी क्या कर रही है ?'

'साड़ियों का ढेर लेकर बैठी हैं।'

'वह साड़ियों में फाल लगाने को कह रही थीं, लगा दिये ?'

'लगा दूंगी, जल्दी क्या है।'

'हां, जल्दी क्या है, अभी तो पूरा महीना पड़ा है···लेकिन देख तो,

अभी से कैसी रौनक हो गयी है घर में और···' और वात खतम करते-करते मां सुवकने लगीं।

'अव इसमें रोने की कौन-सी वात है ?' मैंने खीजकर पूछा। आज जैसे सवने मेरी सहनशक्ति की परीक्षा लेने की ही ठान ली थी।

'मनु के लिए दुःख होता है रे। उसके लिए कुछ भी नहीं किया जा सका। पता नहीं, कहां, किस मंदिर में जाकर फेरे पड़वा लिये थे वेचारे न। क्या-क्या सोच रखा था, पर कुछ नहीं हो सका।'

'आज उसके लिए आंसू वहाने की क्या तुक है, मां।' मैंने वुझे स्वर में कहा। मन तो हो रहा था कि चीखकर कहूं—मां, रोना ही है, तो आज मीतू के लिए रोओ। मनु के लिए रोने का समय तो वहुत पीछे छूट गया।

पुरुप होते हुए भी मौसाजी ने जो जान लिया था, उससे मां होकर भी मां अनजान कैसे रह गयी ! अपनी व्यथाओं के झुरमुट से एक वार तो वाहर आकर झांकती कि कहां क्या हो रहा है।

मां के स्वभाव का भी कुछ पता नहीं चलता। कहां तो वेला भाभी के लिए एक चेन भी उन्होंने नहीं दी थी; नलिन के जन्म पर एक अंगूठी तक हम लोग भेज नहीं पाये थे, और अव···गहनों-कपड़ों का अंवार लग गया है। यह सव कहां से हो रहा है, क्या मैं जानती नहीं !

जिस फैक्टरी का इतना ढोल पीटा जा रहा है, उसकी पोल भी मुझसे छिपी नहीं है। नानाजी की ज़मीन एकाएक ऊंचे दामों पर विक गयी थी और मां ने अपना हिस्सा भी मौसी के नाम कर दिया था। स्टील फर्नीचर का कारखाना खोल लिया गया था। और वी० कॉम० के वाद क्लर्की के लिए वांटेड के कॉलम्स पढ़नेवाले हरि भैया एकाएक जनरल मैनेजर की कुर्सी पर पहुंच गये थे।

और उस कुर्सी ने उन्हें भीतर-वाहर कितना वदल डाला था।

और मेरा सारा रोप मां पर उमड़ पड़ा, 'तुम्हारा भी तो जवाव नहीं है, मां। मर्जी आयेगी, तो दूसरों के लिए घर लुटाकर रख दोगी। नहीं तो पेट-जाये लड़के के नाम तुम्हारे पास कौड़ी तक नहीं निकलेगी। लोग भी तो कैसे चंट होते हैं, मीठी-मीठी वातों से किसी को फुसला कर अपना काम खूव वना लेते हैं।

'मौ—ता !'

मां के स्वर में अप्रत्याशित कड़क थी। मैं सहम कर चुप हो गयी।

'यह तुझे क्या हो गया है, लड़की ! आजकल तू इतनी जहरबुझी बातें कहां से सीख गयी है। ये अपने-पराये की माया कौन सिखा गया है तुझे ? मैं किसी को कुछ नहीं दे रही हू रे। सिर्फ पुराना कर्ज उतार रही हूं। इतना भी नहीं करूंगी, तो सुख से मरना भी नसीब नहीं होगा मुझे।'

मा दिन में तीन बार तो मरने की तैयारी कर ही लेती थी। इसलिए मुझ पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। 'और तुझे मौसी पर इतना गुस्सा क्यों आता है री ! बरसों के बाद तो सुख के दिन देख रही है वह। सारी जिंदगी सिवा गरीबी के देखा ही क्या है उसने। कभी मन भरकर ओढ़ा नहीं, पहना नहीं। कितनी कसमें दे-दिलाकर कभी एकाध चीज दे पायी हूं उसे। इतनी स्वाभिमानी है वह।'

मा एकदम गलत भी नहीं कह रही थी। इस सारे ताम-झाम के बीच भी मौसी एकदम सादगी से रहती थी। तीज-त्योहारों पर मां जिद करके उन्हें अपने गहने-कपड़ो से सजाती, फिर उनका चेहरा अपने दोनों हाथों में उठाकर कहतीं, 'छोटी, सच भगवान ने कैसा राजरानी-सा रूप देकर भेजा है तुझे धरती पर।'

'लेकिन दीदी, किस्मत तो भिखारियों की दी है न, उसका कोई क्या करे।' मौसी अपने को छुड़ाकर कहतीं। यह बात खूब जोर से कही जाती, जिससे मौसाजी उसे जरूर सुन लें। तब मौसाजी का चेहरा व्यथा से काला पड़ जाता और हमारी सारी सहानुभूति उन्हीं के साथ होती।

मां की बनारसी साड़िया मौसी लौटाने आतीं, तो मा कहती, 'रहने दे न ! यहा भी तो पड़ी-पड़ी सड़ ही रही हैं।'

'न, जीजी ! इतने अच्छे कपड़े मुझ पर सजेंगे भला। अपनी औकात भी तो मुझे देखनी चाहिए। मैं तो तुम्हारे चरणों में पड़ी हू, इसलिए कि लड़के की जिंदगी बन जाएगी। नहीं तो पता नहीं कहा भीख मागता फिरेगा।'

यह तो बड़े होने पर ही पता चला कि ये बातें मा से कहने का बहाना भर होता था, असली लक्ष्य होते थे लड़के के पिता।

मैंने तिक्त स्वर मे कहा, 'पता नहीं नानाजी ने दोनो लड़कियों के

साथ इतना पक्षपात क्यों किया। वे तो कन्यादान करके छुट्टी पा गये, ज़िंदगी भर का काला पानी भुगतना पड़ा है मौसाजी को।'

'कोई खुशी से अपनी बेटी कुएं में नहीं फेंक देता री! उसका इतना बड़ा सर्वनाश तो मेरे कारण हुआ है।'

'तुम्हारे कारण?'

'हां, तुम्हारे पापा के कारण।'

कमरे में कुछ समय तक केवल मेरी चूड़ियों की खनक ही सुनाई देती रही।

'मनु के जन्म के समय की बात है। मैं सातवां लगते ही माताजी के पास हैदराबाद आ गयी थी। तेरे पापा बंगलौर में थे। वहां और कोई नहीं था, इसलिए मनु चार-पांच महीने का हो गया, तब भी मुझे उन लोगों ने भेजा ही नहीं। मैं भी मजे में थी, क्योंकि तेरे पापा हर पंद्रह-बीस दिन बाद आते रहते थे। वे आते थे, तो घर में रौनक-सी आ जाती थी। माताजी रसोई में घिरी रहतीं। छोटी अपने जीजा के आगे-पीछे घूमती रहती। घर में छोटा और कोई था नहीं। सेवा का सारा भार उसी पर था। वे भी दिन भर शामली-शामली का जप किये रहते।'

'तुम्हें बुरा नहीं लगता था?'

'बुरा लगने जैसा तो इसमें कुछ था ही नहीं। साली-बहनोई का रिश्ता तो ऐसा ही होता है। फिर मैं तो उस समय अपने रूप-लावण्य पर रीझी हुई थी। एक बेटे को जन्म देकर सोचती थी, मैंने स्वर्ग का राज्य जीत लिया है। यह अकल नहीं थी कि कर्तृत्ववान पुरुष सिर्फ सौंदर्य पर नहीं रीझा करते। बुद्धिमती नारी का आकर्षण भी उतना ही प्रबल होता है। वे इतने विद्वान थे और मेरे पास बात करने के लिए सिर्फ एक ही विषय था—मनु, हमारा मुन्ना। छोटी और वे दिन-रात गपशप किया करते और मैं दिनभर अपने लाड़ले को दुलराया करती, उसके लिए स्वेटर बुनती रहती। अपनी इस बेवकूफी का ध्यान आया तो…मगर तब तक बहुत देर हो चुकी थी।'

'यानी?' मैंने धड़कते हृदय से पूछा, पर मां को शायद मेरा प्रश्न सुनाई ही नहीं दिया।

'जब सारी बात पता चली, तो पिताजी बुरी तरह घबरा गये। माताजी तो खाट से ही लग गयीं। मैंने पहले तो उसे खूब कोसा, फिर समझाया-बुझाया, मनु को उसके पैरों पर डाल दिया। पर वह शेरनी की तरह अडिग रही। बोली—मैं तुम्हारा कोई हक छीन नहीं रही, जीजी। लेकिन अपना अधिकार भी मैं नहीं छोड़ूंगी। बाबा रे, उसकी हिम्मत देखकर तो हम दांतों-तले उंगली दबाकर रह गये थे।'

'फिर ?'

'फिर क्या, जिस विश्वास पर वह पैर जमाकर खड़ी हुई थी, वही जब भरभराकर गिर पड़ा, तब कहीं जाकर वह अबॉर्शन के लिए राजी हुई थी।'

'उफ!'

'दूसरा उपाय ही क्या था। तेरे पापा तो मुंह छिपा गये थे। कंपनी में उन दिनों वे चीफ एडवाइजर के पद पर थे। और भी ऊंचा उठने के स्वप्न देख रहे थे। यह बदनामी उनका भविष्य खराब कर सकती थी। उन्होंने नैरोबी ब्रांच में ट्रांसफर मांग लिया। मुझे लिवाने भी नहीं आये। उनकी चिट्ठी पाकर पिताजी का कारकून ही मुझे छोड़ आया था।'

'इतनी निष्ठुरता!'

'ऐसा ही होता है, मीता। महत्त्वाकांक्षी पुरुष पता नहीं, कितनों की भावनाओं को रौंदता चला जाता है। उसे जरा भी मलाल नहीं होता। घर के पुरोहित का लड़का उसके आगे-पीछे घूमता रहता था। पिताजी ने बहला-फुसलाकर उसी से छोटी को ब्याह दिया। लड़की एक बार बदनाम हो जाए, तो शादी में कितनी मुश्किलें आती हैं, तुझे पता नहीं है।'

'मौसाजी को पता था सब ?'

'क्या पता, उनके मन की थाह किसी ने पायी भी है कभी।'

'वे जरूर जानते होंगे। वे सबके मन की जान जाते हैं। तभी न इतनी दूर आकर बस गये हैं।'

अपनी लंबी कहानी सुनाकर मां निढाल होकर पड़ गयी थीं। मेरे मन में एक हाहाकार-सा उठा। मैंने मचलकर कहा, 'मां, यह सब मुझे सुनाने की

ा जरूरत थी। पापा की कितनी प्यारी इमेज थी मेरे मन में। उस
ट करके तुम्हें क्या मिला ?'

और मुझे सचमुच लगा कि मां ने पुराने अन्याय का नये सिरे से
प्रतिशोध लिया है। लेकिन मरे हुए व्यक्ति से प्रतिशोध, छिः !

'पापा की प्रतिमा के बनने-बिगड़ने से अब क्या फर्क पड़ता है, मीतू !
लेकिन मौसी के लिए तू थोड़ा सहृदय होकर सोच सके, इसीलिए यह सब
कहना पड़ा है। जरा सोच तो, वह अपनी बाजी जीत जाती, तो आज
कहां होती। और मैं···अपने मनु को लेकर उसी की शरण में आने को
बाध्य नहीं होती क्या ? जरा सोच तो।'

क्या सोचना था मुझे। मां ने तो सारी रामायण इसलिए सुनाई थी
कि मौसी के प्रति मेरा आक्रोश कुछ कम हो। कुछ सहानुभूति उमड़े।
सहानुभूति उमड़ी तो पर मां के लिए। कैसा लगा होगा, फिर उस व्यक्ति
के साथ दाम्पत्य निभाना ! उसके बच्चों को जन्म देते समय क्या मौसी के
अजन्मे शिशु की याद नहीं आयी होगी ! मौसी से मुंह छिपाकर तो अफ्रीका
चले गए ये लोग। पर क्या अपने आपसे बच सके होंगे ? अपने आपको
छल सके होंगे ?

विचारों का एक रेला-सा उमड़ आया था मन में। उसे सप्रयास
हटाकर मैं पुनः कुर्सी पर आकर बैठ गयी थी। राइटिंग पैड सामने खिस
कर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा—हरिप्रसन्नऔर सुलक्षणा का शुभ विव

रसोई में आकर मैंने चाय का कप उठाया ही था कि मौसी ने कहा,
हरितालिका है न, मीतू ?'

'ओह, मुझे याद ही न रहा।' मैंने खिसियाकर कहा और क
रख दिया।

'पता है काकी, मीता इतनी-सी थी, तब से तीजा उपासी
पानी की बूंद तक नहीं लेती।' मौसी ने मिसरानी से कहा।

'हूं जाणू नइ कांई। तबई तो संकर भगवान् परसण होइ

'मुझे तो उनके परसन्न होने की कोई खबर नहीं मिली।
क्या संकर भगवान् का टेलीफोन आया है ?'

'हे म्हारा बाप ! तमे मालम नी पड़ी काई। अब्बे हाल तारवालो कागद दे गियो नो नानी बाई ?'

मुझे सचमुच ही कुछ मालूम नहीं था। मैंने धड़कते दिल से मौसी की ओर देखा।

'इसे कहा से पता होगा, काकी। सीधी बिस्तर से उठकर चली आ रही है।'

'किसका तार था ?'

'मनीष का। पंचमी को तेरी सगाई हो रही है। वाजपेयी लोगों को लेकर वह आ रहा है।'

'कौन ? भैया आ रहे हैं ?'

'हा, फिर श्राद्ध पड़ जायेंगे, तो सारे काम धरे रह जायेंगे न ! इसी से इतनी जल्दी है।'

मैं चुप हो रही। गर्मियों में भैया के यहा रायपुर में जिस युवक का साक्षात्कार हुआ था, उसकी आकृति आखो के सामने लाने का यत्न करने लगी।

'लुगायां को जलम बापडो ऐसोज है हो। बाप को घर को सुख चार दिण को, फेर तो···पर या नानी बाई चली जावेगा, तो सुन्नकार हो जावेगा हो।' और काकी तो यू बिसूरने लगी, जैसे मेरी डोली उठने ही वाली है। मैं मुश्किल से अपनी रुलायी रोक पायी। अपने कमरे मे लौट जाने मे ही मैंने कुशल समझी। 'बाई तो चाल्या रे समुराल' की करुण स्वर-लहरी सीढ़ियों पर भी मेरा पीछा करती रही।

'मीता !' मौसी ने आवाज दी।

'अपनी भाभी से कहना, ग्यारह बजे पडितजी पूजा करवाने के लिए आयेंगे। वह तैयार होकर नीचे आ जाए।'

दरअसल यह बात मौसी ने इतनी जोर से कही थी कि अपने कमरे मे भाभी ने उसे जरूर सुन लिया होगा। इतनी सुबह उनके कमरे में जाने की मेरी इच्छा भी नही थी, पर मौसी नीचे पहरे पर खड़ी थीं, इसलिए यह काम टाला नहीं जा सका।

दो बार हल्की दस्तक देने के बाद 'कम इन' का संदेशा पाकर मैंने

दरवाज़ा खोला और स्तब्ध रह गयी।

भाभी अपनी छोटी-सी डायनिंग टेबुल पर नाश्ता कर रही थीं—वह भी आमलेट का। भाभी अंडे लेती हैं, हम लोग जानते थे। उनके छोटे-से फ्रिज में दो-चार अंडे हमेशा रखे रहते थे। अपने कमरे में अकसर ही वे मनपसंद नाश्ता बनाकर लेती रही हैं, पर आज···।

'भाभी, आप शायद भूल गयीं कि आज हरितालिका है।' मैंने किसी तरह इतना कहा।

'नहीं नमिताजी, भूली तो नहीं हूं। कुछ भी भूलने की सुविधा आपके यहां कहां है ?'

मैं प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी प्लेट को देखती रही।

'नाश्ते की बात सोच रही हो न। वह तो एक 'एंटीडोट' के रूप में ले रही हूं। इस जन्म में जो सौभाग्य मिला है, उसे जन्म-जन्मांतर तक वहन करने की सामर्थ्य नहीं है मुझमें।'

स्तब्ध रह गयी मैं। मन हुआ, बेडरूम में झांककर देख लूं, हरि भैया सुन तो नहीं रहे। भाभी ने किसी अंतर्यामी की तरह मेरे मन की बात पढ़ ली। हंसकर बोलीं, 'ननदरानी, क्यों अपने मन को क्लेश दे रही हो। तुम्हारे भैया अस्सल सूर्यवंशी हैं। सूर्य जब तक सिर पर नहीं चढ़ आता, वे नहीं उठते। रातभर सड़कें नापने के बाद अभी-अभी तो सोये हैं बेचारे।'

मुझसे यह निर्दय परिहास अधिक नहीं सुना गया। अपनी मुद्रा को यथाशक्ति कठोर बनाकर कहा, 'मैं तो मौसी का संदेश देने के लिए आयी थी। ग्यारह बजे पंडितजी आयेंगे, आप तैयार होकर नीचे पहुंच जायें।'

'आ जायेंगे भाई, पूजा की फार्मेलिटी भी हो जाए, क्या फर्क पड़ता है। लेकिन नमिता, इस घर में बालूरेत के महादेव की इतनी प्रतिष्ठा क्यों है ! हमारी पूज्यनीया अम्माजी का अपने जीते-जागते महादेव के साथ जैसा···'

अधिक सुनना मेरी सामर्थ्य के बाहर था। बाहर आकर मैंने दरवाजा जोर से बंद कर लिया, ताकि आगे की बात मेरे कानों तक न पहुंचे।

कमरे में आकर मैं सुन्न होकर बैठी रही। अभी शादी को दो साल भी नहीं हुए, भाभी में कितनी कड़वाहट आ गयी है। शादी होकर आयी थीं, तब

वे ऐसी नहीं थीं। अपनी लजीली मुसकान से तब घर भर को एक उजास से भर देती थी वे। हरि भैया तब भी कितने खिले-खिले-से रहते थे।

लेकिन हथेली की मेंहदी भी न उतर पायी थी कि यह रंग उतरने लगा था। ये मुसकानें बुझने लगी थीं।

और इसके लिए सिर्फ मौसी ही उत्तरदायी हैं। एक-दूसरे में खोया हुआ यह सारस का जोड़ा उन्हें फूटी आंखों नहीं सुहाता था। दिनभर दरवाजों को देखकर वे क्रोध में भुनभुनाती रहती। कभी-कभी ऐसी बातें भी कह बैठती कि पास बैठी मैं शर्म से गड़ जाती।

एक दिन अकेले में मौसाजी ने मेरे हाथ में एक लिफाफा पकड़ाकर कहा था—'बिटिया! हरि से कहो, कहीं घूम घाम आये। घर में तो फिर सारी जिंदगी रहना ही है।'

'लेकिन यह है क्या?'

'थोड़े से रुपये हैं, बेटा!' उन्होंने अत्यंत सकुचित होकर कहा था। मैं फिर ज्यादा कुछ नहीं पूछ सकी थी। अपनी छोटी-सी नौकरी में बड़े यत्न से जोड़ी हुई यह पूंजी उन्होंने बेटे की खुशी के नाम कर दी थी।

लेकिन खुशी मिली कहां! हिम्मत करके हरि भैया ने गोवा घूमने का इरादा किया, तो घर में जैसे तूफान आ गया। एक तो उन्होंने अपने मन से ऐसा इरादा किया—मौसी को नाराज होने के लिए यही बहुत था। फिर मौसाजी के अनुदान ने तो आग में घी का काम किया था। बाप-बेटे दोनों ही एक साथ कटघरे में खड़े हो गये थे।

गोवा तो खैर वे लोग गये ही, क्योंकि पहली बार मौसी को पति के दृढ निश्चय से टक्कर लेनी पड़ी थी। और वे हार गयी थीं। लेकिन घूमने का आनंद निर्मल नहीं रह सका। लौटने पर भी प्रेमी-युगल का जैसा स्वागत हुआ, उससे बिखरे हुए हृदयों को पास आने का संबल नहीं जुट सका था।

शायद मौसी को सबसे ज्यादा ईर्ष्या उस प्रेम के आवेग से थी, जो उनके दांपत्य जीवन को कभी सराबोर नहीं कर सका। संभवतः इसीलिए उनका रुख बेटे-बहू को लेकर इतना विकृत हो गया था।

लेकिन हमेशा निर्लिप्त रहने वाले मौसाजी इस विवाह के बाद घर में रस लेने लगे थे। मौसी का कोई वाक्-शर सीधा बहू पर न पड़े, इसके लिए

खोला और स्तब्ध रह गयी।

भी अपनी छोटी-सी डायनिंग टेबुल पर नाश्ता कर रही थीं—वह मलेट का। भाभी अंडे लेती हैं, हम लोग जानते थे। उनके छोटे-से में दो-चार अंडे हमेशा रखे रहते थे। अपने कमरे में अकसर ही वे संद नाश्ता बनाकर लेती रही हैं, पर आज…।

'भाभी, आप शायद भूल गयीं कि आज हरितालिका है।' मैंने किसी ह इतना कहा।

'नहीं नमिताजी, भूली तो नहीं हूं। कुछ भी भूलने की सुविधा आपके हां कहां है ?'

मैं प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी प्लेट को देखती रही।

'नाश्ते की बात सोच रही हो न। वह तो एक 'एंटीडोट' के रूप में ले रही हूं। इस जन्म में जो सौभाग्य मिला है, उसे जन्म-जन्मांतर तक वहन करने की सामर्थ्य नहीं है मुझमें।'

स्तब्ध रह गयी मैं। मन हुआ, बेडरूम में झांककर देख लूं, हरि भैया सुन तो नहीं रहे। भाभी ने किसी अंतर्यामी की तरह मेरे मन की बात पढ़ ली। हंसकर बोलीं, 'ननदरानी, क्यों अपने मन को क्लेश दे रही हो। तुम्हारे भैया अस्सल सूर्यवंशी हैं। सूर्य जब तक सिर पर नहीं चढ़ आता, वे नहीं उठते। रातभर सड़कें नापने के बाद अभी-अभी तो सोये हैं बेचारे।'

मुझसे यह निर्दय परिहास अधिक नहीं सुना गया। अपनी मुद्रा को यथाशक्ति कठोर बनाकर कहा, 'मैं तो मौसी का संदेश देने के लिए आयी थी। ग्यारह बजे पंडितजी आयेंगे, आप तैयार होकर नीचे पहुंच जायें।'

'आ जायेंगे भाई, पूजा की फार्मेलिटी भी हो जाए, क्या फर्क पड़ता है लेकिन नमिता, इस घर में बालूरेत के महादेव की इतनी प्रतिष्ठा क्यों है हमारी पूज्यनीया अम्माजी का अपने जीते-जागते महादेव के साथ जैसा…'

अधिक सुनना मेरी सामर्थ्य के बाहर था। बाहर आकर मैंने दरव जोर से बंद कर लिया, ताकि आगे की बात मेरे कानों तक न पहुंचे।

कमरे में आकर मैं सुन्न होकर बैठी रही। अभी शादी को दो साल भ हुए, भाभी में कितनी कड़वाहट आ गयी है। शादी होकर आयी

वे ऐसी नहीं थी। अपनी लजीली मुसकान से तब घर भर को एक उजास से भर देती थीं वे। हरि भैया तब भी कितने खिले-खिले-से रहते थे।

लेकिन हथेली की मेंहदी भी न उतर पायी थी कि यह रंग उतरने लगा था। ये मुसकानें बुझने लगी थी।

और इसके लिए सिर्फ मौसी ही उत्तरदायी हैं। एक-दूसरे मे खोया हुआ यह सारस का जोड़ा उन्हें फूटी आंखो नहीं सुहाता था। दिनभर दरवाजों को देखकर वे क्रोध मे भुनभुनाती रहती। कभी-कभी ऐसी बातें भी कह बैठती कि पास बैठी मैं शर्म से गड़ जाती।

एक दिन अकेले में मौसाजी ने मेरे हाथ मे एक लिफाफा पकड़ाकर कहा था—'बिटिया! हरि से कहो, कहीं घूम-घाम आये। घर मे तो फिर सारी ज़िंदगी रहना ही है।'

'लेकिन यह है क्या?'

'थोड़े से रुपये हैं, बेटा!' उन्होंने अत्यंत संकुचित होकर कहा था। मैं फिर ज्यादा कुछ नही पूछ सकी थी। अपनी छोटी-सी नौकरी मे बड़े यत्न से जोड़ी हुई यह पूंजी उन्होंने बेटे की खुशी के नाम कर दी थी।

लेकिन खुशी मिली कहा! हिम्मत करके हरि भैया ने गोवा घूमने का इरादा किया, तो घर मे जैसे तूफान आ गया। एक तो उन्होंने अपने मन से ऐसा इरादा किया—मौसी को नाराज होने के लिए यही बहुत था। फिर मौसाजी के अनुदान ने तो आग मे घी का काम किया था। बाप-बेटे दोनों ही एक साथ कटघरे मे खड़े हो गये थे।

गोवा तो खैर वे लोग गये ही, क्योंकि पहली बार मौसी को पति के दृढ़ निश्चय से टक्कर लेनी पड़ी थी। और वे हार गयी थीं। लेकिन घूमने का आनंद निर्मल नही रह सका। लौटने पर भी प्रेमी-युगल का जैसा स्वागत हुआ, उससे बिखरे हुए हृदयों को पास आने का मबल नही जुट सका था।

शायद मौसी को सबसे ज्यादा ईर्ष्या उस प्रेम के आवेग से थी, जो उनके दांपत्य जीवन को कभी सराबोर नही कर सका। संभवतः इसीलिए उनका रुख बेटे-बहू को लेकर इतना विकृत हो गया था।

लेकिन हमेशा निर्लिप्त रहने वाले मौसाजी इस विवाह के बाद घर मे रस लेने लगे थे। मौसी का कोई वाक्-शर सीधा बहू पर न पड़े, इसके लिए

दरवाज़ा खोला और स्तब्ध रह गयी।

भाभी अपनी छोटी-सी डायनिंग टेबुल पर नाश्ता कर रही थीं—वह भी आमलेट का। भाभी अंडे लेती हैं, हम लोग जानते थे। उनके छोटे-से फ्रिज में दो-चार अंडे हमेशा रखे रहते थे। अपने कमरे में अकसर ही वे मनपसंद नाश्ता बनाकर लेती रही हैं, पर आज···।

'भाभी, आप शायद भूल गयीं कि आज हरितालिका है।' मैंने किसी तरह इतना कहा।

'नहीं नमिताजी, भूली तो नहीं हूं। कुछ भी भूलने की सुविधा आपके यहां कहां है?'

मैं प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी प्लेट को देखती रही।

'नाश्ते की बात सोच रही हो न। वह तो एक 'एंटीडोट' के रूप में ले रही हूं। इस जन्म में जो सौभाग्य मिला है, उसे जन्म-जन्मांतर तक वहन करने की सामर्थ्य नहीं है मुझमें।'

स्तब्ध रह गयी मैं। मन हुआ, बेडरूम में झांककर देख लूं, हरि भैया सुन तो नहीं रहे। भाभी ने किसी अंतर्यामी की तरह मेरे मन की बात पढ़ ली। हंसकर बोलीं, 'ननदरानी, क्यों अपने मन को क्लेश दे रही हो। तुम्हारे भैया अस्सल सूर्यवंशी हैं। सूर्य जब तक सिर पर नहीं चढ़ आता, वे नहीं उठते। रातभर सड़कें नापने के बाद अभी-अभी तो सोये हैं बेचारे।'

मुझसे यह निर्दय परिहास अधिक नहीं सुना गया। अपनी मुद्रा को यथाशक्ति कठोर बनाकर कहा, 'मैं तो मौसी का संदेश देने के लिए आयी थी। ग्यारह बजे पंडितजी आयेंगे, आप तैयार होकर नीचे पहुंच जायें।'

'आ जायेंगे भाई, पूजा की फार्मेलिटी भी हो जाए, क्या फर्क पड़ता है। लेकिन नमिता, इस घर में बालूरेत के महादेव की इतनी प्रतिष्ठा क्यों है! हमारी पूज्यनीया अम्माजी का अपने जीते-जागते महादेव के साथ जैसा···'

अधिक सुनना मेरी सामर्थ्य के बाहर था। बाहर आकर मैंने दरवाजा जोर से बंद कर लिया, ताकि आगे की बात मेरे कानों तक न पहुंचे।

कमरे में आकर मैं सुन्न होकर बैठी रही। अभी शादी को दो साल भी नहीं हुए, भाभी में कितनी कड़वाहट आ गयी है। शादी होकर आयी थीं, तब

वे ऐसी नही थी। अपनी लजीली मुसकान से तब घर भर को एक उजास से भर देती थी वे। हरि भैया तब भी कितने खिले-खिले-से रहते थे।

लेकिन हथेली की मेंहदी भी न उतर पायी थी कि यह रंग उतरने लगा था। ये मुसकानें बुझने लगी थीं।

और इसके लिए सिर्फ मौसी ही उत्तरदायी हैं। एक-दूसरे में खोया हुआ यह सारस का जोडा उन्हे फूटी आखो नही सुहाता था। दिनभर दरवाजो को देखकर वे क्रोध मे भुनभुनाती रहती। कभी-कभी ऐसी बातें भी कह बैठती कि पास बैठी मैं शर्म से गड जाती।

एक दिन अकेले में मौसाजी ने मेरे हाथ में एक लिफाफा पकड़ाकर कहा था—'बिटिया ! हरि से कहो, कहीं घूम-घाम आये। घर मे तो फिर सारी जिंदगी रहना ही है।'

'लेकिन यह है क्या ?'

'थोडे से रुपये हैं, बेटा !' उन्होने अत्यंत संकुचित होकर कहा था। मैं फिर ज्यादा कुछ नही पूछ सकी थी। अपनी छोटी-सी नौकरी में बड़े यत्न से जोड़ी हुई यह पूजी उन्होंने बेटे की खुशी के नाम कर दी थी।

लेकिन खुशी मिली कहा ! हिम्मत करके हरि भैया ने गोवा घूमने का इरादा किया, तो घर मे जैसे तूफान आ गया। एक तो उन्होने अपने मन से ऐसा इरादा किया—मौसी को नाराज होने के लिए यही बहुत था। फिर मौसाजी के अनुदान ने तो आग में घी का काम किया था। बाप-बेटे दोनो ही एक साथ कटघरे मे खडे हो गये थे।

गोवा तो खैर वे लोग गये ही, क्योकि पहली बार मौसी को पति के दृढ़ निश्चय से टक्कर लेनी पड़ी थी। और वे हार गयी थी। लेकिन घूमने का आनंद निर्मल नही रह सका। लौटने पर भी प्रेमी-युगल का जैसा स्वागत हुआ, उससे बिखरे हुए हृदयो को पास आने का सबल नही जुट सका था।

शायद मौसी को सबसे ज्यादा ईर्ष्या उस प्रेम के आवेग से थी, जो उनके दांपत्य जीवन को कभी सराबोर नही कर सका। संभवतः इसीलिए उनका रुख बेटे-बहू को लेकर इतना विकृत हो गया था।

लेकिन हमेशा निलिप्त रहने वाले मौसाजी इस विवाह के बाद घर मे रस लेने लगे थे। मौसी का कोई वाक्-शर सीधा बहू पर न पडे, इसके लिए

वे वड़े सजग रहते थे। वरसों वाद उनके स्वाभिमानी और निरीह व्यक्तित्व का मूल्यांकन हुआ था—वहू ने किया था। उनके कपड़े, उनका पूजाघर, उनकी पुस्तकें, उनका कमरा—वहू के सुघड़ हाथों के स्पर्श से दमकने लगे थे। जैसा अकृत्रिम स्नेह वे देते थे, वैसा ही प्रगाढ़ आदर उन्हें मिलता था। मुझे यह सब देखकर वड़ा अच्छा लगता था।

लेकिन इसके आगे भाभी का अधिकार नहीं था। शुरू-शुरू में उन्होंने वगीचे का कायाकल्प करना चाहा था, रसोई नये सिरे से जमानी चाही थी, ड्राइंगरूम की सजावट वदलने का प्रयास किया था, पर कहीं भी कुछ भी करने की अनुमति नहीं मिली। उनके साथ आया वहुमूल्य फर्नीचर भी उनके कमरे में कैद होकर रह गया था।

'यह आकाशवाणी है···' दूर कहीं से प्रसारक की जुकाम में भीगी आवाज़ आयी, तो मैं चौंकी। वाप रे ! आठ वज गये। ऊटपटांग वातों को सोचती रह गयी मैं और यहां कॉलेज का समय हो चला था। दनादन सीढ़ियां उतर-कर नीचे आयी। रसोई में झांका, पूजा-पाठ से निवृत्त होकर मौसाजी पहली चाय ले रहे थे। मिसरानी काकी आज सुवह से ही मौसी की हाजिरी में थी। चाय उन्होंने खुद ही वनायी थी शायद।

'प्लीज मौसाजी, फिफ्टी-फिफ्टी ! आपको मैं दोवारा वना दूंगी।'

'आज तो विटिया का उपवास होगा न ?' उन्होंने मेरे मग में चाय उड़ेलते हुए पूछा।

'सव छोड़-छाड़ दिया। दरअसल अव इन चीजों में वचपन की-सी आस्था नहीं रही।' मैंने दोवारा चाय का पानी चढ़ाते हुए कहा। मौसाजी के सामने यह सव कहते हुए झिझक भी न हुई। उनसे छिपा ही क्या था।

'उड़ते-उड़ते खवर मिली है कि परसों तुम्हारी सगाई है। भई, मुवारक हो।'

'अव मुझे थैंक्यू भी कहना पड़ेगा। ठीक है न ?···वैसे मौसाजी, सवसे खुशी की वात तो यह है कि भैया इतने दिनों वाद घर आयेंगे।'

'हां विटिया, सन्तोष को देखे अरसा हो गया। तू तो कभी-कभार जाती भी रही है उसके पास, पर वहनजी तो तरस गयी होंगी।'

'क्या कहने हैं बहनजी के ! इतना ही प्यार होता, तो क्या बात थी ?' मैंने कड़वाहट से भरकर कहा और विषय वहीं समाप्त कर दिया। आज सुबह-सुबह यह अच्छी खबर मिली थी और मैं खुश रहकर उसे 'सेलिब्रेट' करना चाहती थी।

पर कहते हैं न, मेरे मन कछु और है···

पूजा-सामग्री और दक्षिणा पोटली में बांधकर पंडितजी ने दरवाज़े के बाहर पैर दिया ही होगा कि मौसी बरस पड़ी, 'तीज-त्योहार पर तो ढंग से पहन-ओढ़ लिया करो। जिसके पास नहीं होता, वे लोग नकली गहने-गुरियों से घर भर लेती हैं। इनके पास हैं, तो ये दलिद्दर दिखाने में ही धन्य होती हैं।'

चौकी के आसपास रंगोली बनाती हुई भाभी का हाथ क्षणभर को कांप गया, चेहरे की रेखाएं कठोर हो आयीं, पर दूसरे ही क्षण उनकी उंगलियां पूर्ववत् चलने लगीं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। उनका यह पथरीला मौन ही मौसी को सहमा देता है। सामने बोलनेवाले को तो वे चुटकियों में उड़ा देती हैं।

मैंने उस अप्रिय प्रसंग को समाप्त करते हुए कहा, 'मां, भैया के लिए अपना कमरा खाली कर दूं ? मैं तुम्हारे कमरे में आ जाऊंगी।'

'अरे, वह कौन-सा महीना भर रहने आ रहा है। कहीं भी पड़ रहेगा। लेकिन दिल्ली वालों को कहां टिकायेंगे। पता नहीं, कितने लोग हैं। हॉल में इंतज़ाम कर लें, या किसी होटल में ठहरा लें। क्यों, छोटी ?'

'मुझसे क्या पूछती हो जीजी, घर का मालिक जाने और उनका काम जाने। अपन हुकुम के गुलाम हैं।' मौसी ने रुखाई से कहा।

'वाह री, घर के मालिक तो गऊ-से सीधे हैं। वे कब हुक्म चलाते हैं। सारा तो तुम पर सौंप रखा है। बेचारे अपने ठाकुरजी को लेकर मगन रहते हैं। कभी किसी काम में दखल नहीं देते।'

'तुम घर का मालिक किसे समझ रही हो, मीतू के मौसा को। वाह जीजी ! तुम्हारा भी जवाब नहीं है।' और मौसी विद्रूपभरी हंसी हंस उठीं।

'तो क्या हरि के लिए कह रही है ? उसको तो आठ-आठ दिन मुझे

सूरत ही नहीं दिखाई देती। पता नहीं, कहां रहता है। अच्छा, लौटे तो उससे कह देना, जल्दी से कुछ व्यवस्था कर ले। अब समय ज्यादा नहीं है।' मां का उत्साह देखकर मुझे खुशी हो रही थी।

'हरि कुछ नहीं करेगा, जीजी !'

'क्यों ?' मौसी के कंठस्वर से आशंकित होकर मां ने पूछा।

'क्योंकि वह घर का मालिक नहीं है। घर का मालिक मनीप है। उसे आने दो, जैसा कहेगा, कर देंगे।' मौसी ने जैसे दो-टूक बात कह दी।

'तू हमेशा उल्टी बात करेगी, छोटी !'

'इसमें उलटा क्या है, जीजी। अपनी मर्जी का मालिक नहीं होता, तो क्या यूं परभारे शादी तय करता। मैं तो खैर, कोई नहीं हूं, पर तुमसे तो पूछ सकता था। बताओ भला, तुम्हें एक बार लड़का तो दिखा सकता था।'

ओह, अब समझी।

मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे
तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे।

वाली बात थी। मां का तो बहाना भर था। ठेस तो मौसी के अभिमान पर लगी थी। उनके सहज अधिकार की भैया ने सीधे उपेक्षा कर दी थी। इस अपराध को थोड़ा सौम्य बनाने की गरज से मैंने कहा, 'पूछताछ की गुंजाइश थी ही कहां ? तुम्हारी काली-कलूटी लड़की को किसी ने पसंद कर लिया, यही गनीमत थी। तुम लोग ठीक से देख-परख सको, इसीलिए तो यहां आ रहे हैं, नहीं तो यह प्रोग्राम भी रायपुर में नहीं हो सकता था क्या ?'

'पहले से कुछ पत्र तो देना चाहिए। एकदम तार ठोंक दिया।' मौसी अब कुछ-कुछ नरम पड़ती जा रही थीं।

'उन्हें विश्वास है तुम्हारी कार्यकुशलता पर, इसीलिए तो निश्चित हैं।' मैंने मस्का मारा, 'उन्हें विश्वास है कि सारी व्यवस्था ठीक-ठाक मिलेगी।'

'व्यवस्था कौन बड़ी बात है। सगाई का क्या, मैं तो चार दिन में शादी खड़ी कर सकती हूं। पर तेरे भैया से डर लगता है। पूरा सनकी सैनिक है। और जिद्दी एक नंबर का। पाठक लोग पहली बार आये थे,

तब कैसा तमाशा किया था, याद है न !'

मैं सहम गयी। मौसी क्या सहज भाव से यह सब कह गयी थीं। मैंने कनखियों से भाभी की ओर देखा। उनका गुलाबी चेहरा सफेद पड़ गया था। होंठ इतनी सख्ती से भिंचे थे कि लगता था, अब खून ही आ जायेगा। स्मृति का वह अध्याय निश्चय ही किसी भी लड़की के लिए अपमानजनक था। वे कुछ देर बुत बनी बैठी रहीं और फिर एक झटके के साथ उठकर ऊपर को चल दीं।

उनसे दृष्टि हटाकर मैंने मां को देखा। वे एकटक भाभी को देख रही थीं। उनकी आंखों में क्या था? और मैं समझ गयी कि मौसी ने यह सब सहज भाव से नहीं कहा था। भाभी के स्वाभिमान को डंक मारने का चाहे उनका उद्देश्य न रहा हो, पर भैया के प्रति मां के मन में ज़हर घोलना उनका मतव्य था। यह काम योजनाबद्ध तरीके से वे बरसों से करती आ रही हैं। दर्जन भर लड़कियों में से सुलक्षणा को चुनने के पीछे भी शायद यही हेतु था। दिनभर वह मां के सामने इसी घर में रहेगी और मां कभी न भूल पायेंगी कि मनीष ने उनके साथ क्या किया है।

दूसरे दिन सुबह-सुबह मौसी ने कहा, 'मीता, भाभी से कहो कि जल्दी आरती कर लें, तो पूजा सिरा दें। बिना उसके गणेशजी कैसे विराजेंगे?'

मैंने तुनककर कहा, 'बार-बार मुझे उनके कमरे में मत भेजा करो, मौसी। अच्छा नहीं लगता।' दरअसल मुझे उस कमरे में जाते डर लग रहा था। रात घनघोर बारिश होती रही थी। मैं पढ़ने का बहाना करके नीचे जागरण में भी शामिल नहीं हुई थी। अपने कमरे की साकल लगाकर चुपचाप पड़ी रही थी। पर बंद किवाड़ों को भेद कर भी बगलवाले कमरे की आवाज़ें अनचाहे सुनाई पड़ रही थीं। निश्चय ही वह प्रेमालाप नहीं था। भाभी को पहली बार मैंने इतनी ऊंची आवाज़ में बोलते हुए सुना था। बार-बार एक प्रश्न हवा में तैरता आ रहा था, 'आखिर मुझे भी बताइए, इस घर में हमारी स्थिति है क्या?'

क्या उत्तर दिया था हरि भैया ने, सुन नहीं पायी मैं।

जब रात ऐसी महाभारतवाली थी, तो सुबह का आलम पता नहीं

कैसा होगा, इसी से ऊपर जाना टाल गयी मैं।

रतजगे के लिए मिसरानी काकी यहीं रुक गयी थीं। वे ही इस समय काम आयीं। बड़े उत्साह से ऊपर गयीं और कुछ ही देर में लौट आयीं।

'लाडी उजीन जा रही दीखै। कहै कि म्हारा दाजी वैमार ह।'

'हरी!' मौसी की धारदार आवाज़ घर में गूंजी।

'क्या है?' सीढ़ियों के सिरे पर खड़े होकर हरि भैया ने पूछा। पता नहीं, कितने दिनों वाद उन्हें देखा था। एक ही छत के नीचे रहते हुए हम लोग एक-दूसरे से हफ्तों नहीं मिल पाते थे। वे सोकर उठते, तव मैं कॉलेज जा चुकी होती। वे रात को लौटते, तव तक सारा घर सो चुका होता। जव-जव उन्हें देख पाती, हर वार लगता, वे पहले से अधिक संवला गये हैं, दुवला गये हैं। तव प्राणों में कैसी तो मरोड़ उठती...

'वहू कहां जा रही है?' मौसी का प्रश्न मेरी विचारधारा को तोड़ गया।

'मैं क्या जानूं। पूछ लो उसी से!' हरि भैया ने सपाट स्वर में कहा।

'उसी से क्यों पूछूंगी, मैं तो तुझी से पूछूंगी।'

'ये आग का गोला मेरे पल्ले वांधने से पहले पूछा था? अव क्यों पूछती हो?' और मुंह फेरकर वे वापस अपने कमरे में चले गये। उनके आरोप से जड़ वनी मौसी वहीं खड़ी रह गयीं।

'मैं भाभी साव के लिए रिक्शा लेने जा रहा हूं।' मांगीलाल ने कहा और छाता लेकर सवके सामने निकल गया। मौसी फटी-फटी आंखों से देखती भर रह गयीं।

घवराकर मैं पूजाघर की ओर दौड़ी। मनोयोग से चंदन घिसते हुए मौसाजी 'मानस पूजा' का पाठ कर रहे थे।

'मौसाजी! जरा वाहर आइए, जल्दी से। भाभी पता नहीं क्यों, एक़दम उज्जैन चली जा रही हैं। आप कहेंगे, तो रुक जायेंगी। आपका वहुत आदर करती हैं। आपकी वात नहीं टालेंगी।'

किंतु वे वैसे ही वैठे रहे।

'चलिए न !' मैंने व्यग्रता से कहा।

'यह तुमसे किसने कह दिया कि वह मेरा आदर करती है। उस जैसी मनस्विनी का आदर पाने के योग्य मैं कहा हूं। वह सिर्फ मुझ पर दया करती है।'

उस समय यह सारी चर्चा इतनी निरर्थक मालूम हो रही थी।

'हरि कहां है ?'

'अपने कमरे में।'

'रोकना अगर चाहे, तो वही उसे रोक सकता है। चाहे प्यार से, चाहे अधिकार से। मेरे कहने का कोई मतलब नहीं निकलता···'

रिक्शा रुकने की आवाज आयी और मैंने हताश होकर ऊपर देखा। वांहों पर रेनकोट और हाथ में सूटकेस लेकर भाभी उतर रही थी।

लेकिन दरवाजे के भीतर जिसने प्रवेश किया, वह मांगीलाल नहीं था, वे भैया थे। आते ही चिल्लाये, 'गुडमार्निंग, एवरीबडी।'

'मां, भैया आये हैं !' मैंने खुशी से किलककर कहा और उनके कंधे से झूल गयी। मां और मौसी दौड़ी आयीं और हम तीनों-चारों प्यार के सैलाव में बह-से गये। सीढ़ियों पर बुत बनी खड़ी भाभी की ओर किसी का ध्यान नहीं गया।

'भाभीजी, रिक्शा आ गया।' मांगीलाल ने एकदम आकर कहा और तब हमें होश आया।

'किसके लिए रिक्शा आया है ? सुलक्षणा के लिए ? क्यों ? कहां जा रही है ?' भैया ने जैसे प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

'उज्जैन जा रही है।'

'क्यों ? कोई खास बात ?'

'नहीं···ऐसे ही···पिताजी से मिलने जा रही हैं।' मैंने यत्नपूर्वक कहा।

'तब तो वह रुक सकती है। यह फंक्शन हो जाये, फिर मैं खुद जाकर उसे छोड़ आऊंगा। मांगीलाल, यह रुपया दे और रिक्शा लौटा दे।'

दूसरे ही क्षण भाभी के कमरे का दरवाजा इतनी जोर से बंद हुआ कि मैं कांप उठी। सोचा, भैया से कह दूं—'उन्हें जाने दो। जबरदस्ती किस

को रोकने में क्या तुक है।'

लेकिन आते ही सारी रामायण सुनाकर उन्हें परेशान करने की इच्छा नहीं हुई।

लेकिन इतना सब्र शायद औरों से नहीं हो सका था।

शाम को भैया ने कहा, 'चल मीतू, थोड़ा घूम आएं।'

बरसात में इंदौर घूमने लायक कतई नहीं रह जाता, पर भैया साथ थे, इसलिए सब-कुछ सुहावना लग रहा था। ओवर ब्रिज पार कर हम लोग 'आइडियल' में जाकर बैठ गये। और स्थानों की अपेक्षा यहीं थोड़ा एकांत था। भैया शायद इसके लिए तरस गये थे। ऑर्डर दे चुकने के साथ ही बोले, 'अब थोड़ा चैन आया। घर में तो जरा भी प्रायवेसी नहीं है। कहने को इतनी बड़ी कोठी है।' फिर थोड़ा रुककर बोले, 'मीता! हरि को क्या हो गया है?'

'क्यों?'

'नहीं, मुझे लगा कि सब-कुछ ठीक-ठाक नहीं है, खासकर उसकी पत्नी। मौसी बता रही थीं कि उसका व्यवहार एकदम...'

'वह बिलकुल ठीक हैं, बस भ्रांति की शिकार हुई हैं और यही सारे असंतोष की जड़ है। जो सब्जबाग उन्हें दिखाये गये थे, सब-के-सब नकली थे।'

'फैक्टरी का क्या हुआ?'

'अभी चल रही है, जैसे-तैसे। पर हरि भैया वहां हफ्तों तक झांकते भी नहीं। दिनभर पता नहीं कहां-कहां भटकते रहते हैं। रात गये घर लौटते हैं। अजीब-अजीब-से दोस्त पाल रखे हैं।'

'बेचारा! दरअसल वह लड़का बिजनेस के लायक था ही नहीं। वैसी सामर्थ्य उसके पास नहीं है। इससे तो कहीं नौकरी में लग जाता, तो ठीक रहता।' भैया के स्वर में सहानुभूति का पुट था।

'उनकी अम्मा की महत्त्वाकांक्षाओं का भी तो पार नहीं है।' मैंने कड़वाहट से कहा।

'यही तो रोना है। बीवी से भी तो उसका स्वभाव मेल नहीं खाता।

उसे तो कोई घरेलू लड़की ही सूट करती। लेकिन यह काफी महत्त्वाकांक्षी है। पता है, उसने हरि से कहा है कि अब वह दूसरों की छत के नीचे नहीं रहेगी।'

कल का सारा इतिहास मेरी आंखों के सामने घूम गया। मैंने होले से पूछा, 'आपने कैसे जाना ?'

'मौसी ने ही बताया है···और मीता, एक बात मेरे मन में आयी है।'

'क्या ?'

'तुम्हें अगर कोई आपत्ति न हो, तो यह मकान मैं हरि के नाम करना चाहता हूं···अर्थात् तुम्हारी शादी के बाद।'

दर्द का एक बड़ा-सा घूंट मेरे गले में अटक गया। बरबस अपने आंसू रोकते हुए मैंने पूछा, 'और मां ?'

'मां मेरे पास रहेंगी। किसी-न-किसी दिन तो उन्हें यह फैसला करना ही था। जितनी जल्दी कर लें, उतना अच्छा है।'

'उनसे पूछ लिया है ?'

'हां, एक तरह से यह प्रस्ताव उन्हीं की ओर से आया है।'

'पता नहीं, मां यह किस जन्म का कर्ज उतारती जा रही हैं।' मैंने तड़पकर कहा, 'आपको इस तरह बेघर करने का उन्हें क्या हक है ?'

'जिस दिन पापा की मृत्यु हुई थी मीता, बेघर तो मैं उसी दिन हो गया था। यह घर कभी मेरी आत्मा को स्वीकार नहीं हुआ। इसके साथ जुड़ी हुई सारी स्मृतियां उदास कर जाती हैं···*सिवा तेरे।*' और उन्होंने मेरे माथे को प्यार से थपकिया दिया, 'और यह मत भूलो मीतू, कि यदि मौसी जीवन की बाजी जीत गयी होतीं, तो यह घर आज उन्हीं का होता। मैं और मां आश्रय के लिए शायद उन्हीं का मुंह जोहते होते।'

'भैया, आप···आप भी यह सब जानते हैं ?' मैंने अस्फुट स्वर में कहा।

'हां मीता, और दुःख की बात तो यह है कि यह सब मैं अपने आप जान गया। कितनी छोटी आयु में मैंने घर के वातावरण से इस कहानी के बीज चुन लिये थे। मां ने पापा को कभी क्षमा नहीं किया था। उनकी इस इकलौती भूल का वे किसी अमोघ अस्त्र की तरह समय-असमय प्रयोग

को रोकने में क्या तुक है।'

लेकिन आते ही सारी रामायण सुनाकर उन्हें परेशान करने की इच्छा नहीं हुई।

लेकिन इतना सब्र शायद औरों से नहीं हो सका था।

शाम को भैया ने कहा, 'चल मीतू, थोड़ा घूम आएं।'

वरसात में इंदौर घूमने लायक कतई नहीं रह जाता, पर भैया साथ थे, इसलिए सब-कुछ सुहावना लग रहा था। ओवर ब्रिज पार कर हम लोग 'आइडियल' में जाकर वैठ गये। और स्थानों की अपेक्षा यहीं थोड़ा एकांत था। भैया शायद इसके लिए तरस गये थे। ऑर्डर दे चुकने के साथ ही वोले, 'अव थोड़ा चैन आया। घर में तो जरा भी प्रायवेसी नहीं है। कहने को इतनी वड़ी कोठी है।' फिर थोड़ा रुककर वोले, 'मीता! हरि को क्या हो गया है?'

'क्यों?'

'नहीं, मुझे लगा कि सब-कुछ ठीक-ठाक नहीं है, खासकर उसकी पत्नी। मौसी वता रही थीं कि उसका व्यवहार एकदम···'

'वह विलकुल ठीक हैं, वस भ्रांति की शिकार हुई हैं और यही सारे असंतोप की जड़ है। जो सब्जवाग उन्हें दिखाये गये थे, सब-के-सब नकली थे।'

'फैक्टरी का क्या हुआ?'

'अभी चल रही है, जैसे-तैसे। पर हरि भैया वहां हफ्तों तक झांकते भी नहीं। दिनभर पता नहीं कहां-कहां भटकते रहते हैं। रात गये घर लौटते हैं। अजीव-अजीव-से दोस्त पाल रखे हैं।'

'वेचारा! दरअसल वह लड़का विजनेस के लायक था ही नहीं। वैसी सामर्थ्य उसके पास नहीं है। इससे तो कहीं नौकरी में लग जाता, तो ठीक रहता।' भैया के स्वर में सहानुभूति का पुट था।

'उनकी अम्मा की महत्त्वाकांक्षाओं का भी तो पार नहीं है।' मैंने कड़वाहट से कहा।

'यही तो रोना है। वीवी से भी तो उसका स्वभाव मेल नहीं खाता।

उसे तो कोई घरेलू लड़की ही सूट करती। लेकिन यह काफी महत्त्वाकांक्षी है। पता है, उसने हरि से कहा है कि अब वह दूसरों की छत के नीचे नहीं रहेगी।'

कल का सारा इतिहास मेरी आखों के सामने घूम गया। मैंने हौले से पूछा, 'आपने कैसे जाना?'

'मौसी ने ही बताया है···और मीता, एक बात मेरे मन मे आयी है।'

'क्या?'

'तुम्हें अगर कोई आपत्ति न हो, तो यह मकान मैं हरि के नाम करना चाहता हू···अर्थात् तुम्हारी शादी के बाद।'

दर्द का एक बडा-सा घ्ंट मेरे गले मे अटक गया। बरबस अपने आंसू रोकते हुए मैंने पूछा, 'और मा?'

'मा मेरे पास रहेगी। किसी-न-किसी दिन तो उन्हें यह फैसला करना ही था। जितनी जल्दी कर लें, उतना अच्छा है।'

'उनसे पूछ लिया है?'

'हा, एक तरह से यह प्रस्ताव उन्ही की ओर से आया है।'

'पता नहीं, मा यह किस जन्म का कर्ज उतारती जा रही हैं।' मैंने तड़पकर कहा, 'आपको इस तरह बेघर करने का उन्हें क्या हक है?'

'जिस दिन पापा की मृत्यु हुई थी मीता, बेघर तो मैं उसी दिन हो गया था। यह घर कभी मेरी आत्मा को स्वीकार नही हुआ। इसके साथ जुड़ी हुई सारी स्मृतियां उदास कर जाती हैं···सिवा तेरे।' और उन्होंने मेरे माथे को प्यार से थपकिया दिया, 'और यह मत भूलो मीतू, कि यदि मौसी जीवन की बाजी जीत गयी होती, तो यह घर आज उन्ही का होता। मैं और मां आश्रय के लिए शायद उन्ही का मुह जोहते होते।'

'भैया, आप···आप भी यह सब जानते है?' मैंने अस्फुट स्वर में कहा।

'हा मीता, और दु ख की बात तो यह है कि यह सब मैं अपने आप जान गया। कितनी छोटी आयु मे मैंने घर के वातावरण से इस कहानी के बीज चुन लिये थे। मा ने *पापा को कभी क्षमा नही किया था।* उनकी इस इकलौती भूल का वे किसी अमोघ अस्त्र की तरह समय-असमय प्रयोग

को रोकने में क्या तुक है।'

लेकिन आते ही सारी रामायण सुनाकर उन्हें परेशान करने की इच्छा नहीं हुई।

लेकिन इतना सब्र शायद औरों से नहीं हो सका था।

शाम को भैया ने कहा, 'चल मीतू, थोड़ा घूम आएं।'

वरसात में इंदौर घूमने लायक कतई नहीं रह जाता, पर भैया साथ थे, इसलिए सव-कुछ सुहावना लग रहा था। ओवर ब्रिज पार कर हम लोग 'आइडियल' में जाकर वैठ गये। और स्थानों की अपेक्षा यहीं थोड़ा एकांत था। भैया शायद इसके लिए तरस गये थे। ऑर्डर दे चुकने के साथ ही वोले, 'अव थोड़ा चैन आया। घर में तो जरा भी प्रायवेसी नहीं है। कहने को इतनी वड़ी कोठी है।' फिर थोड़ा रुककर वोले, 'मीता! हरि को क्या हो गया है?'

'क्यों?'

'नहीं, मुझे लगा कि सव-कुछ ठीक-ठाक नहीं है, खासकर उसकी पत्नी। मौसी वता रही थीं कि उसका व्यवहार एकदम···'

'वह विलकुल ठीक हैं, वस भ्रांति की शिकार हुई हैं और यही सारे असंतोप की जड़ है। जो सञ्जवाग उन्हें दिखाये गये थे, सव-के-सव नकली थे।'

'फैक्टरी का क्या हुआ?'

'अभी चल रही है, जैसे-तैसे। पर हरि भैया वहां हफ्तों तक झांकते भी नहीं। दिनभर पता नहीं कहां-कहां भटकते रहते हैं। रात गये घर लौटते हैं। अजीव-अजीव-से दोस्त पाल रखे हैं।'

'वेचारा! दरअसल वह लड़का विजनेस के लायक था ही नहीं। वैसी सामर्थ्य उसके पास नहीं है। इससे तो कहीं नौकरी में लग जाता, तो ठीक रहता।' भैया के स्वर में सहानुभूति का पुट था।

'उनकी अम्मा की महत्त्वाकांक्षाओं का भी तो पार नहीं है।' मैंने कड़वाहट से कहा।

'यही तो रोना है। वीवी से भी तो उसका स्वभाव मेल नहीं खाता।

उसे तो कोई घरेलू लड़की ही सूट करती। लेकिन यह काफी महत्त्वाकांक्षी है। पता है, उसने हरि से कहा है कि अब वह दूसरों की छत के नीचे नही रहेगी।'

कल का सारा इतिहास मेरी आखो के सामने घूम गया। मैंने हौले से पूछा, 'आपने कैसे जाना ?'

'मौसी ने ही बताया है···और मीता, एक बात मेरे मन में आयी है।'

'क्या ?'

'तुम्हे अगर कोई आपत्ति न हो, तो यह मकान मैं हरि के नाम करना चाहता हू···अर्थात् तुम्हारी शादी के बाद।'

दर्द का एक बडा-सा घू ट मेरे गले मे अटक गया। बरबस अपने आंसू रोकते हुए मैंने पूछा, 'और मा ?'

'मां मेरे पास रहेंगी। किसी-न-किसी दिन तो उन्हें यह फैसला करना ही था। जितनी जल्दी कर लें, उतना अच्छा है।'

'उनसे पूछ लिया है ?'

'हा, एक तरह से यह प्रस्ताव उन्हीं की ओर से आया है।'

'पता नहीं, मा यह किस जन्म का कर्ज उतारती जा रही हैं।' मैंने तड़पकर कहा, 'आपको इस तरह बेघर करने का उन्हें क्या हक है ?'

'जिस दिन पापा की मृत्यु हुई थी मीता, बेघर तो मैं उसी दिन हो गया था। यह घर कभी मेरी आत्मा को स्वीकार नही हुआ। इसके साथ जुडी हुई सारी स्मृतिया उदास कर जाती हैं···सिवा तेरे।' और उन्होंने मेरे माथे को प्यार से थपकिया दिया, 'और यह मत भूलो मीतू, कि यदि मौसी जीवन की बाजी जीत गयी होती, तो यह घर आज उन्ही का होता। मैं और मां आश्रय के लिए शायद उन्ही का मुह जोहते होते।'

'भैया, आप···आप भी यह सब जानते हैं ?' मैंने अस्फुट स्वर मे कहा।

'हां मीता, और दु ख की बात तो यह है कि यह सब मैं अपने आप जान गया। कितनी छोटी आयु मे मैंने घर के वातावरण से इस कहानी के बीज चुन लिये थे। मा ने पापा को कभी क्षमा नही किया था। उनकी इस इकलौती भूल का वे किसी अमोघ अस्त्र की तरह समय-असमय प्रयोग

करती रहीं। पापा बेचारे तब कितने असहाय नज़र आते थे।'

'सच कह रहे हैं?'

'हां, सच ही तो कह रहा हूं। और वह एक दिन तो आज भी ज्यों-का-त्यों मेरे मन में अंकित है। उस दिन ड्राइवर नहीं आया था। पापा सिरदर्द के कारण आफिस से जल्दी लौट आये थे। मां चाहती थीं कि वे सुनीता को स्कूल से लिवा लाएं। पापा कह रहे थे, स्कूल में फोन कर दो, किसी के भी साथ चली आयेगी।

'बस, इसी जरा-सी बात को मां ने इतना तूल दे दिया। क्या-क्या तो कह डाला। पिछले सारे आरोपों को फिर से दोहरा गयीं वे। कह डाला कि बच्चों के प्रति उनमें जरा भी ममता नहीं है।···मजबूर होकर पापा ने गैरेज से गाड़ी निकाली थी और वे सुनीता को लिवाने चले गये थे··· और स्कूल से लौटा था उनका और सुनीता का छिन्न-विच्छिन्न शरीर।'

सिहरकर मैंने दोनों हाथों से मुंह ढांप लिया। स्मृति की क्षीण रेखाएं कल्पना के सहारे कैसे-कैसे चित्र बनाने लगी थीं।

'रोओ मत, मीता। अब यह बिसरा हुआ अतीत है।' भैया ने खुरदरे स्वर में कहा। मैंने भीतर-ही-भीतर अपने आंसू सोख लिये। एक गहरा मौन हम दोनों के बीच फैल गया।

'मां शायद अपने को अब तक क्षमा नही कर सकी हैं···बेचारी।' कुछ देर बाद कॉफी सिप करते हुए मैं कह रही थी।

'हां, और यह पछतावा उनके साथ जीवन भर रहेगा।'

'अन्याय तो मां के साथ भी कम नहीं हुआ था। पर परिस्थितियां सारा दोष उन्हीं के सिर मढ़ गयी हैं।' मैंने मां के प्रति आर्द्र होते हुए कहा।

'अन्याय तो हुआ था, पर उन्होंने जिस तरह पापा को सताया, वह भी कम भयानक नहीं था। अगर क्षमा नहीं कर सकती थीं, तो उन्हें रास्ते से हट जाना चाहिए था। कम-से-कम वे दो प्राणी तो सुख से जी लेते··· मैं तो हैरान हूं, मौसी भी अपने मन की आवाज़ क्यों नहीं सुन सकीं। इस अनमेल विवाह से तो एकाकी जीवन कहीं अधिक अच्छा होता। कम-से-कम उस जीवन में शांति तो होती, सुकून तो होता।'

'अकेले रह लेना क्या इतना सरल है, भैया ? हम लोगों को इतनी आजादी कौन देता है ! विवाह भी कई बार एक विवशता बन जाता है···' कहते-कहते मेरा कंठ इतना भीग उठा कि भैया मुझे देखते रह गये। उनकी पारदर्शी आंखें मेरे भीतर तक उतर आयीं। एकाएक मेरे दोनों कंधे पकड़कर बोले, 'सच कहना, मीता—क्या तुम हरि को लेकर भावुक रही हो ?'

क्या उत्तर था मेरे पास ?

'तुमने मुझसे कभी कुछ कहा क्यों नहीं, पगली ! वहां मैं अपनी घर-गृहस्थी में खोया रहा और यहां तुम अपने आप में इस तरह घुलती रहीं···क्या कभी क्षमा कर पाऊंगा मैं अपने आप को ?'

'जो भी हो भैया, हम लोग यह विषय समाप्त नहीं कर सकते। प्लीज !' और यह कहते हुए मेरा स्वर कांप-कांप गया।

'विषय तो सचमुच समाप्त कर ही देना है। बीते हुए को साथ घसीटने से सिर्फ दु:ख ही हाथ आता है और उसकी आंच तुम्हारे हमराही को भी लग सकती है। यह अन्याय तुम कभी मत करना, क्योंकि इसकी विभीषिका तुम रोज़ देख रही हो। मेरे लिए इतना करोगी न, मीता ?'

भैया मेरे सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेर रहे थे। जीवन में पहली बार लगा कि मैं अनाथ नहीं हूं, मेरे सिर पर भी पिता का छत्र है।

सगाई का मुहूर्त तो शाम का निकला था, पर पंचमी के दिन सुबह से ही घर में चहल-पहल हो गयी थी। नौकरों को दम मारने की फुर्सत नहीं थी—कभी मौसी और कभी भैया की पुकार पर इधर-उधर दौड़ रहे थे। भैया की दौड़-धूप का तो अंत ही नहीं था। निमंत्रणों से लेकर बिछायतकी व्यवस्था तक—सब उनके जिम्मे था। मौसी भी कम व्यस्त नहीं थीं। भैया ने बड़ी चतुराई से सर्वाधिकार उन्हें सौंप कर खुश कर दिया था। आश्चर्य तो यह था कि मां भी छिटपुट कामों में हाथ बंटा रही थीं। करने को इतना सारा काम था, पर संकोच के मारे मुझसे कुछ करते नहीं बन रहा था। और सब ओर से आंख मूंदकर कमरे में बैठना भी अच्छा नहीं लग रहा था। इसीलिए मैंटी का टेबल क्लॉथ लेकर वहीं बरामदे में बैठ

गयी थी।

भैया हॉल में बिछायत लगवा रहे थे। मिसरानी काकी के बच्चे गुब्बारे फुलाने का काम बड़े शौक से कर रहे थे।

'मनीष ?' एकाएक मौसी ने दरवाज़े में खड़े होकर कहा, 'यह तूने क्या किया ?'

'क्यों ? क्या हुआ ?'

'यह कालीन इस कोने में क्यों लगा दिया ? लड़की का मुंह दक्षिण को हो जायेगा न।'

'अब यह उत्तर-दक्षिण मुझे नहीं आता, मौसी। तुम लोगों से कहता हूं, पांच मिनट यहां खड़ी रहो, तो पता नहीं अंदर क्या करने लग जाती हो। अब यह काम होने तक यहां से जाना नहीं।'

'अंदर कितना काम पड़ा है भैया। टेंट हाउस से क्रॉकरी आकर पड़ी है, उसे पोंछना है। मिठाइयों की पेटियां खोलनी हैं, थाल जमाना है, पंडितजी का सामान तैयार करना है…'

'घर में बहू के होते हुए तुम इन छोटे-मोटे कामों में सिर क्यों खपाती हो ?'

'क्या कहने हैं ! एक बार नीचे उतरकर झांका भी है उसने।'

'अच्छा ! मीतू, भाभी को बुलाकर तो ला।' भैया ने कहा तो इतना गुस्सा आया मुझे।

'मैं सुबह से यहां फालतू बैठी हूं। मुझसे कोई काम करवाइए न आप लोग। मैं नहीं बुलाने जाऊंगी किसी को।' मैंने तुनककर कहा।

'ठीक है, तो मैं जाता हूं।' और सचमुच वे दनादन सीढ़ियां चढ़कर चले गये। बड़ी मुश्किल से उनके साथ-साथ पहुंच पायी मैं।

'भाभी !' मैंने जल्दी से उनके कमरे में जाकर कहा, 'आपको नीचे बुला रहे हैं !'

'कौन बुला रहे हैं ?' उन्होंने उपन्यास से सिर उठाकर बेफिक्री से पूछा।

'मैं बुला रहा हूं।' दरवाजे के बाहर से भैया का दबंग स्वर आया, तो हम दोनों ही क्षणभर को सकपका गयीं।

'शाम को मीतू की सगाई का कार्यक्रम है। तीन बजे तैयार होकर तुम नीचे आ जाना। और अभी अगर मौसी चाहें, तो उनका भी हाथ बंटा लो।' इतना कहकर भैया नीचे जाने के लिए उतर चुके थे कि भाभी तेजी से बाहर आयीं और बोलीं—'यह मालिक मकान का आदेश है?'

'हां, आदेश ही समझ लो। मालिक न सही, घर का बडा लड़का तो मैं हूं।' बडी सहजता से भैया ने कहा और नीचे उतर गये।

बाद का नाटक देखने की मेरी इच्छा नही थी, इसलिए मैंने कमरे में अपने को बंद कर लिया। नियोजित वर महोदय की तसवीर को सामने रखकर देखती रही, उसे मन मे उतारने का प्रयास करती रही। पता नही, कब भैया इसे कमरे मे रख गये थे।

ढाई बजे से ही मा-मौसी मुझे तैयार करने का संकल्प ले बैठीं। कभी जूडा, कभी चोटी, कभी ढीली, कभी कसी—ऊह, किसी तरह संतोष नही हो रहा था। मा ने अपने तीनों-चारों सेट निकालकर रख दिये थे। दोनों ने अपनी कीमती और चटख साड़ियों का मेरे सामने अंबार लगा दिया था। दोनों बहनें 'चंपई बरन' की थी। ये साड़िया उन पर सचमुच फबती थी, पर मेरा *नाम तो कॉलेज मे 'ब्लैक रोज ऑफ अफ्रीका'* पड़ा हुआ था, यह उन्हे कैसे समझाती। उन साड़ियों की ओर तो झाकते भी डर लगता था। मा का तो सारा वार्डरोब ही पुराने फैशन का था। बरसों बद रहने के कारण उन कपड़ो मे अजीब-सी गध भर गयी थी।

भैया किसी काम से अदर आये, तो मैंने याचना की दृष्टि से उनकी ओर देखा। वे मेरी परेशानी समझ गये और खुद उस ढेर को उलट-पलट करने लगे।

तभी सुगंध का एक झोंका-सा भीतर आया और उसके साथ ही यह प्रश्न भी—'मेरे लिए क्या आज्ञा है?'

हम सभी की आखें एक साथ दरवाजे की ओर उठ गयी। वहा जैसे महालक्ष्मी की अलंकृत प्रतिमा ही उत्तर आयी थी। नाजुक जरी वर्क की साड़ी मे भाभी को पहली बार देखा था। पिछली दीवाली पर यह उनके

पीहर से आयी थी, पर एक बार भी उन्होंने पहनी नहीं थी। एक अजीब-सा विराग उन पर आ गया था। पहनने-ओढ़ने का कोई शौक ही नहीं रहा था। महीनों उनके चेहरे पर मेकअप की हल्की-सी पर्त भी दिखाई नहीं देती थी।

पर आज जैसे उन्होंने सारी कसर निकाल ली थी। गर्वोन्नत मुद्रा में द्वार पर खड़ी वे पलभर को सबको अभिभूत कर गयी थीं।

उनके इस आयोजन को सार्थक करते हुए सबसे पहले भैया ने ही सहज स्वर में कहा, 'वाह, इसे कहते हैं तैयार होना। सुलक्षणा, अब जरा मीतू को संभालो तो। ये दोनों बहनें तो उसका कार्टून बनाने पर तुली हुई हैं।'

इतना कहकर जब वे बाहर चले गये, तो लगा, मैं एकदम अजनबी हाथों में सौंप दी गयी हूं।

चार दिन पता नहीं कैसे फुर्र-से उड़ गये और भैया के जाने का दिन आ पहुंचा। मैं भारी मन से उनके आस-पास ही मंडरा रही थी। सोच रही थी उनके साथ का एक भी क्षण व्यर्थ न जाने दूंगी।

'आपने बुलाया था?' दरवाज़े के बाहर खड़े होकर भाभी ने कुछ इस अंदाज में पूछा, जैसे उन्हें बुलाकर कोई अपराध किया गया है।

'आओ सुलक्षणा, बैठो। कुछ जरूरी बातें करनी थीं तुमसे।'

भाभी भीतर तो आ गयीं, पर बैठी नहीं। दीवार के सहारे खड़ी ही रहीं, मानो कह रही हों—जो कुछ कहना है, जल्दी से कह-सुन लीजिए।

'मैं तुम्हें एक जिम्मेवारी सौंपना चाह रहा हूं। दहेज का सारा सामान तुम लोगों को ही खरीदना है। मैं तो बिलकुल समय पर ही आ पाऊंगा। मां और मौसी के भरोसे यह काम नहीं छोड़ सकता। ऊटपटांग सामान खरीदकर घर भर देंगी···ये अभी कुछ रुपये रख लो। जाते ही और भेज दूंगा।'

भैया ने उनकी ओर लिफाफा बढ़ाया भी, पर वे उसे अनदेखा कर काठ की तरह खड़ी ही रह गयीं।

'सुलक्षणा ! क्या सोच रही हो ?'

'आप यह काम उन्हें नहीं सौंप सकते थे ?' भाभी ने सीधे उनकी आखों मे देखते हुए पूछा, 'या आप भी उन्हे किसी लायक नहीं समझते ?'

उनके स्वर की तल्खी परेशान कर देनेवाली थी, पर भैया ने बड़े ही शात स्वर मे कहा, 'चाहता तो यही था। पर तुम्हारे 'उन' का पता-ठिकाना कहा से पाऊंगा। मुझे तो शक है, तुम्हे भी उसके बारे में कुछ नही पता।'

भाभी के पास कोई उत्तर नही था।

'आया था, उस दिन सिर्फ एक झलक उसकी देखी थी…और देखकर खुशी नही हुई थी। चाहता था, पास बिठाकर कुछ बात करूंगा, लेकिन उसके पास शायद फालतू बातों के लिए समय नही है। ठीक है न ?' और फिर एकाएक गंभीर स्वर में बोले भैया, 'मैं तुमसे बहुत नाराज हू, सुलक्षणा।'

भाभी की बड़ी-बड़ी आंखें प्रश्न बनकर फैल गयी।

'अपनी गृहस्थी का यह कैसा मजाक बना डाला है तुमने। हरि किस रास्ते से जा रहा है, कुछ पता भी है तुम्हे। या तुमने कभी सोचने की आवश्यकता ही नही समझी ?'

उत्तर में भाभी के होंठ सख्ती से भिच गये। मुझे वहां बैठना अजीब-सा लगने लगा। उठकर चला जाना शायद और भी अशोभन लगता। मैं बेमतलब भैया के सूटकेस को उलट-पलट करती रही।

'विवाह कोई बच्चों का खेल तो नहीं है। तुम्हारी बेरुखी देखकर मुझे हैरत होती है।' भैया ने फिर कहा, 'विवाह से पहले तुमने इन दायित्वों के बारे में सोचा तो होगा।'

और भाभी जैसे एकदम फट पड़ी, 'सोचा क्यों नही था, लेकिन विवाह किया था मैंने एक पुरुष के साथ; तब यह नही सोचा था कि जिसका वरण कर रही हूं, वह मात्र रबड़ का एक बबुआ है, जिसके पास न अपनी कोई संवेदनाएं हैं, न आस्थाएं, न आकाक्षाएं। वह न ढग से प्रेम कर सकता है, न घृणा। इस तरह शून्य में कितने दिन जिया जा सकता है, बतायेंगे ?'

उनके प्रबल भावावेग के सामने हम लोग एकदम स्तब्ध रह गये थे।

कुछ समय बाद भैया ने स्नेहसिक्त स्वर में कहा, 'मनुष्य का स्वभाव अपने आप नहीं बन जाता, सुलक्षणा! उसका भी एक इतिहास होता है। हरि का बचपन बहुत सुखद परिस्थितियों में नहीं बीता है। हो सकता है, कुछ ग्रंथियां उसके मन में हों···लेकिन यह कोई इतना बड़ा कारण नहीं है कि तुम्हें घर छोड़कर जाना पड़े, बल्कि उसे तो तुम्हारी सहानुभूति की जरूरत है।'

'पूज्यनीय भाई साहब, मैं कोई फिल्मी हीरोइन नहीं हूं, जो हमेशा के लिए घर छोड़कर चली जाती।' भाभी का व्यंग्य-भरा स्वर तिलमिला देने वाला था, 'मैं सिर्फ देखना चाहती थी कि उनकी आत्मा में कोई चिनगारी शेष है या नहीं। वे मेरा हाथ पकड़कर मुझे रोक सकते थे। अगर क्रोध में आकर मेरा रास्ता रोक लेते, तब भी मुझे खुशी होती। लेकिन उनकी मानसिक जड़ता इस हद तक पहुंच चुकी है कि वे टुकुर-टुकुर देखते रह गये।···और आप चाहते हैं कि मुझे उनसे सहानुभूति होनी चाहिए। खैर, आपके उपदेशामृत के लिए आभारी हूं। आशा है, दूसरों को अपनी जिंदगी जीने की सुविधा भी कभी-कभी देते रहेंगे।'

भाभी निमिष भर में कमरे से अलोप हो गयीं। पर उनके दर्प भरे अस्तित्व का बड़ी देर तक भान होता रहा। और एकाएक मुझे भान हुआ कि वे भैया का कितना बड़ा अपमान कर गयी हैं। रोष में भरकर मैंने कहा, 'आपको क्या जरूरत थी उस पचड़े में पड़ने की। उन्होंने कभी किसी की बात मानी भी है आज तक। हरि भैया उन्हें आग का गोला कहते हैं।'

'आग का गोला! सचमुच यह तो भभकता हुआ ज्वालामुखी ही है। पता है, उसे मैंने क्यों बुलाया था। मैं घर के बारे में भूमिका बांधना चाहता था, पर हिम्मत ही नहीं हुई। उसका इतना बड़ा अपमान करने का साहस नहीं बन पड़ा मेरा।' भैया गंभीर होकर बोले।

'इसमें अपमान भला क्या होता! बल्कि···' 'तू समझती नहीं है, मीतू। उसकी जाति के लोग दान-पत्रों से अपमानित ही होते हैं।'

'मीतू!'

भैया को सी-ऑफ करके लौटने के बाद, अपने कमरे में बैठी मैं

चुपचाप आंसू वहा रही थी। भाभी की आवाज़ सुनकर चौंक पड़ी। वे मेरे पास ही पलंग पर आकर बैठ गयी थी। उस अनजाने सामीप्य से ही याद आया कि उन्होंने हमेशा की तरह 'नमिता जी' कहकर आवाज नही दी थी।

'क्या है ?' मैंने रुखाई से पूछा। उन्हें मैं अब तक क्षमा नही कर पायी थी।

'एक बात कहनी थी।'

'कहिए।'

'अभी-अभी मन मे बात उठी, तो कहने चली आयी, बाद में पता नही कह भी पाऊंगी या नही।'

'कहिए भी।'

'अपने भाईसाहब को पत्र लिखोगी न ! तब मेरी ओर से क्षमा मांग लेना। मुझे इतना कटु व्यवहार नही करना चाहिए था।'

'यह बात उनके सामने कहती, तो शायद वे ज्यादा खुश होते। पता है, कितने बुरे मूड में यहा से विदा हुए हैं वह।'

'पता नही मुझे आजकल क्या हो जाता है। वे बात कर रहे थे, तो मुझे लगा, अपना अधिकार जता रहे हैं। और मेरा खून खौल गया। यह तो बाद मे ठंडे दिमाग से सोचने पर लगा कि अधिकार तो उनका फिर भी हम पर है, बड़े जो हैं।'

'हां, और उसी प्यार के अधिकार से वे दो बातें कर लेना चाहते थे, पर आपके तो मन में पता नही कैसा पूर्वग्रह पैठ गया है।' मैंने तुनककर कहा, 'कितनी बड़ी बात कहने जा रहे थे वे आपसे, पर आपने मौका ही न दिया।'

'क्या बात थी ?'

'यह घर हरि भैया के नाम करना चाहते हैं वह।'

'क्या ?…'भाभी चीखी और एकदम उठ खड़ी हुईं, 'सच कह रही हो, नमिता ?'

'हा, और आपको खुश होना चाहिए कि आपकी जिद पूरी हुई। अब से आपको किसी और के घर मे नहीं रहना पड़ेगा।'

'तो यह मेरी शान मे हो रहा है…नमिता, अभी-अभी मैं तुम्हारे भाई

साहब से क्षमा मांगने आयी थी। लेकिन लगता है, अब कभी क्षमा नहीं कर पाऊंगी। शादी के बाद हर औरत अपना घर चाहती है। इसमें अनहोनी क्या है? फिर उसके लिए इतना आडंबर रचने की क्या आवश्यकता है।'

'इसमें आडंबर क्या है, भाभी? यह तो बल्कि...'

'एक और उपकार है, यही न। पिछले अहसानों के बोझ से दबे हुए हैं अब तक हम लोग। इसके बाद तो शायद कभी भी सिर नहीं उठा सकेंगे। एक तरह से मेरी उमरकैद का फरमान होगा यह।'

'क्या अंटशंट बके जा रही हैं आप! अहसानों की भाषा में हमने कभी सोचा भी नहीं।'

'यही तो आपका बड़प्पन है। देते जायेंगे और कभी ज़बान पर नाम न लायेंगे, लेकिन हमारे लेते रहने की भी तो कुछ सीमा होनी चाहिए... सच कहती हूं नमिता, मैं किराये के दो कमरों में भी गुज़ारा कर लूंगी, बशर्ते वह मेरा घर हो। जहां हर पल यह भान न होता रहे, हम किसी और की छत के नीचे खड़े हैं। हर कौर के साथ यह ग्लानि न लिपटी रहे कि हम किसी और का दिया खा रहे हैं। इस तरह का अन्न खाते-खाते इन लोगों का स्वाभिमान जंग खा चुका है। पर मुझमें अभी कुछ स्वत्व शेष है, तभी तक मुझे यहां से चले जाना है।' कहते-कहते भाभी बुरी तरह कांप उठी थीं। उनका चेहरा एकदम श्रांत-क्लांत हो गया था, आंखों की कोरें भीग गयी थीं।

'आप बेकार परेशान न हों,' मैंने सांत्वना के स्वर में कहा, 'भैया समझ गये थे कि इस बात से आपको दुःख होगा। इसीलिए फिर चुप रह गये थे।'

'भाई साहब बहुत समझदार हैं।' उन्होंने थके स्वर में कहा, 'उन्हें मेरी ओर से धन्यवाद दे देना और कहना—इतने उपकार किये हैं, तो एक और कीजिए, अंतिम। हम लोगों को निकाल बाहर कीजिए।'

'छिः भाभी, कैसी बातें करती हो!' मैंने मीठी झिड़की दी।

'सच कह रही हूं नमिता, दो पीढ़ियां इस घर में राख हो चुकी हैं। तीसरी को मैं आग में नहीं झोंक सकती। नहीं, मैं यह नहीं कर सकती।'

'तीसरी पीढ़ी ?'

'हां, महाभारत के अभिमन्यु ने गर्भ में ही चक्र-व्यूह-प्रवेश का तंत्र सीख लिया था। मेरा अभिमन्यु मुझे चक्रव्यूह से बाहर आने का मंत्र दे रहा है।'

'तुम्हारा अभिमन्यु ? ···ओ भाभी, हाउ स्वीट !' और मैं दोनों बाहें उनके गले में डालकर झूल गयी।

हरि के अजन्मे शिशु के प्रति यह कैसी ममता उमड़ आयी थी !

पाषाण-युग

'चल बकुल, तेरे दूल्हे को स्टेशन छोड़ आएं।' भाभी ने लाड भरे स्वर में इसरार किया।

'ना बाबा! मैं तो यहीं से टा-टा कर लूंगी।' मैंने कहा। भाभी ने ज्यादा जोर नहीं दिया, तो समझ गयी कि महज एक फार्मेलिटी निभायी थी उन्होंने। चली जाती, तो शायद उन्हें असुविधा ही होती।

लेकिन जब अपनी तीनों सवारियों को लेकर तांगा आंखों से ओझल हो गया, तब लगा, चली ही जाती, तो ठीक था। कुछ ऊब तो कम हुई होती।

पर दूसरे ही पल इनका रातवाला रौद्र रूप याद आया, तो लगा, अच्छा ही हुआ। कहीं सबके सामने ही कुछ कह बैठते तो! रात तो खैर, अपने अपमान को मैंने अकेले ही झेल लिया था। भाभियों ने तो इतनी चुहलबाजी के बाद ठेल-ठालकर मुझे कमरे में भेजा था, पर दरवाजा बंद करते ही ये उबल पड़े थे, 'हर बात का अपना एक समय होता है, बकुल। अपना एक औचित्य होता है। इस घर की जो भी परंपरा रही हो, लेकिन मैं इतना अधीर नहीं कि श्वसुर की तेरहीं के दिन भी पत्नी की कामना करने लगूं।'

उनके इस वक्तव्य से स्तब्ध रह गयी थी मैं। जवाब भी क्या देती! कैसे बतलाती कि आयी हूं, उसी दिन से इसी कमरे में मेरा बिस्तर लगता रहा है। दूसरा ठौर ही कहां था! दोनों भाभियों ने तो अपने-अपने कमरे

घेर लिये थे। कभी किसी ने नहीं सोचा कि वकुल अकेली कमरे में घवराएगी। उसके पास कोई सो जाए, या अपने पास ही वुला ले।

दाखीवाई तो रोज़ वर्तन मलते हुए वड़वड़ाती थी, 'वाप मरे पे भी लुगायों नी छोड़ी जायें हो। कसो जमानो आयो है।'

चूड़ियां खनकीं, तो मैंने पीछे मुड़कर देखा, दाखीवाई ही थी। सूखे कपड़ों का ढेर समेट रही थी।

'कंवर साव गिया कांई?' उसने पूछा।

मैंने सिर हिला दिया।

'तम नी गया साथे?'

'अभी कुछ दिन मम्मी के पास रहूंगी।'

'और ई सव?'

'ये लोग तो कल-परसों चले जायेंगे। छुट्टी खतम हो रही है न।'

'हूं।' उसने मुंह विचका दिया। उसके मन का सारा अविश्वास, सारा तिरस्कार इस भंगिमा में प्रकट हो गया।

शिशिर की गुनगुनी धूप में छत पर खड़ा रहना वड़ा सुखद लग रहा था, पर दाखीवाई का वाचाल साथ रसभंग करनेवाला ही था। उसके लिए कोई भी विषय निषिद्ध नहीं था और कई वार वह मुझसे भी कुछ न कुछ कहलवा ही लेती थी। और फिर देर तक मुझे डर लगा रहता कि किसी ने सुन न लिया हो।

'नीचे कोई आया तो नहीं?' मैंने ज़ीने की ओर पैर बढ़ाते हुए पूछा।

'आया है नी! छोटी भाभी जी वैठी हैं वड़ा कमरां मां।'

मेरा दिल वैठने-सा लगा। इन दिनों आनेवालों का तांता लगा हुआ था। हॉल तो कभी खाली ही नहीं रहता। पापा की लोकप्रियता का सजीव प्रमाण था यह। पहले-पहल तो ढेर सारे लोग देखकर खुशी होती थी··· लगता था, इतने सारे लोग हमारे दुःख में हिस्सा वंटा रहे हैं। लेकिन अव ता दहशत-सी होने लगी है। वार-वार वही जुमले वोलकर मुंह का स्वाद जाता रहा है और प्रत्येक वार प्रत्येक आगंतुक को रिपोर्ट-सी देनी होती है—अजय कव आया? अभय कव आया? कितने दिन ठहरेंगे? शकुन क्यों नहीं आयी? और फिर दीदी के विवाह की अप्रिय चर्चा।

इन सबसे बचने के लिए मैंने पिछले दरवाज़े से जाना ही ठीक समझा। दबे पाव ज़ीना उतरकर मैं बगीचे की ओर मुड़ गयी। हॉल के नीचे से गुजर रही थी, तभी सुना, छोटी भाभी नाटकीय शैली मे बता रही थीं, 'हाय, मैं तो इतनी घबरा गयी थी। डैड बॉडी को लाइफ में फर्स्ट टाइम देखा था न! ओह, इट वॉज टेरीबल!'

इतनी कोफ्त हो आयी। आखिर यह सब कितनी बार कहा जायेगा और डेड बॉडी क्या रोज देखने की चीज़ है! कौन ऐसा अभागा होगा!

सच तो यह है कि इस तरह की बात कहने से दो काम सिद्ध होते हैं। एक तो अपनी नज़ाकत का बखान हो जाता है। दूसरे यह भी साबित हो जाता है कि पापा की मृत्यु के समय केवल यही लोग उपस्थित थे ··और अगर थे भी, तो आश्चर्य क्या है! आखिर नागदा से इंदौर की दूरी ही कितनी है। इन्हे तो समय पर पहुचना ही था। लेकिन कितनी बार यह प्रसंग सुनाया जायेगा।

यू ही जलते-भुनते मैंने पिछले दरवाज़े से भीतर पैर दिया, तो मसालो की सुगंध ने स्वागत किया। समझते देर नही लगी कि बुआजी किचन में विराजमान है। आयी है, उसी दिन से उन्हे शिकायत है कि महाराज खाना ढंग से नही बनाता। इसीलिए अकसर कुछ-न-कुछ अपनी पसद का छौंक लेती है।

'आज तो बुआजी, बड़ी जल्दी खाना बन रहा है।' मैंने एक कुर्सी खीचकर आसन जमाते हुए पूछा।

'अरे, आज गीता भवन जाऊंगी। महाराज बोला कि बड़े अच्छे प्रवचन हो रहे हैं वहा। और सुन तो, अजय कहा गया है?'

'स्टेशन गये हैं, इन्हे छोड़ने।'

'वह भी साथ गयी है क्या? बड़ी देर से दिखाई नहीं दी।' (बुआजी का दिमाग क्या है, पूरा हाज़िरी रजिस्टर है)।

मैंने जवाब नही दिया, तो बोली, 'अच्छा लगता है यह! लोग तुम्हारे दरवाज़े मिलने आ रहे हैं और तुम मियां-बीवी घूमने जा रहे हो।'

'दरअसल उन्हें बच्चों के लिए कुछ···'

'अरे, वाह! दुनिया तो बंबई से सामान मंगाती है और ये यहा से ले

जायेंगी। और वच्चों को साथ ले आतीं, तो क्या छूत लग जाती ? कोई बीए-एमे की पढ़ाई थी, जो मारी जाती। अरे, बच्चों का दादा मरा था, कोई ऐरा-गैरा नहीं था।'

'हम भी तो अपनी सुमा को लाये ही हैं कि नहीं।' छोटी भाभी ने आग में घी छोड़ते हुए कहा। वे पता नहीं कब मेहमानों को विदा करके भीतर आ गयी थीं।

मैंने वेजार होकर मेज़ पर सिर रख दिया। शोक-प्रदर्शन की जैसे होड़-सी लगी हुई है और हर कोई दूसरे से वाजी मार लेना चाहता है।

और जिस पर यह दुःख का पहाड़ टूट पड़ा है, उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। फूफाजी की मृत्यु पर मैं पापा के साथ बुलंदशहर गयी थी, तब देखा था—बुआजी दिनभर निढाल पड़ी रहतीं और घरभर उन के आराम के लिए, सांत्वना के लिए खटता रहता। घर में पचासों लोग आ-जा रहे थे, उन्हें कोई होश नहीं था। कितने रिश्तेदार घर में जुट गये थे, कितने सारे लोगों के लिए रोज़ खाना बनता था, पर उन्हें कोई परेशान नहीं करता था।

और यहां, यहां तो सब जैसे मेहमानदारी के लिए ही आये हुए हैं। हर बात के लिए मम्मी के पास दौड़ जायेंगे—मम्मीजी, मच्छरदानियां कहां रखी हैं? मम्मीजी, गैस खतम हो गयी! मम्मीजी, शाम को दूध कितना आयेगा? मम्मी, अमुक का फोन नंबर क्या है? मम्मी, सामान कौन-सी दुकान से आयेगा?

एक नहीं, सौ-सौ प्रश्न। अपनी जिम्मेवारी पर जैसे कोई कुछ करना ही नहीं चाहता। और पत्थर में तराशा-सा चेहरा लिये मम्मी सबके जवाब दिये जाती हैं। जरूरत आ पड़े, तो खुद भी दो-चार काम निपटाती रहती हैं। और ऐसे मौकों पर मुंह पर पल्लू की आड़ देकर बुआजी फुसफुसाती रहती हैं, 'उसे क्यों दरद आयेगा भला। कौन फेरे पड़कर इस घर में आई है।'

जैसे दुःख के लिए भी अग्नि-नारायण की साक्षी वहुत जरूरी है।

भला हो महाराज का, जो बुआजी को गीता भवन के प्रवचन सुनाने लि

ले गया और हम लोगों को पहली बार कुछ प्रायवेसी मिली। देर रात तक हम लोग बैठे बतियाते रहे। पता नहीं, कितने सालों बाद यह संयोग आया था।

दसेक बज चुके होंगे, जब बड़े भैया बोले, 'एक-एक कप कॉफी हो जाती, तो मजा आ जाता।'

मैंने कुछ क्षण प्रतीक्षा की, पर दोनों भाभियां बुत बनी बैठी रहीं। तब मैंने ही यह भार अपने ऊपर ले लिया और नीचे आ गयी। मम्मी के कमरे की बत्ती जल रही थी। सोचा, चलकर उनसे भी पूछ लूं।

'मम्मी, आप...' मैंने कहा तो, पर शब्द जैसे मुंह में ही जम गये। उनकी छोटी-सी राइटिंग मेज पर ढेर-सी चिट्ठियां बिखरी पड़ी थीं और वे निर्निमेष सामने गुप्ताजी की कोठी की ओर देख रही थीं। एक उजड़ी हुई दुनिया उनके चेहरे पर प्रतिबिंबित हो उठी थी और मुझे यह ग्लानि कचोटने लगी कि इतनी देर तक किसी को भी उनका ध्यान न आया।

सहसा कुछ सम्मिलित ठहाकों की आवाज सामने वाली कोठी से उभरी और कलेजे को चीरती चली गयी। मम्मी ने भी दोनों हथेलियों से कान ढक लिये। तो क्या उन्हें भी उन ठहाकों में पापा की हंसी की अनुगूंज सुनाई दे गयी थी।

तैश में आकर मैंने इतनी जोर से खिड़की बंद की कि वे भी चौंक पड़ीं, 'कौन है...बकुल?'

'क्या ये लोग कुछ दिन तक खेल नहीं बंद कर सकते?' मैंने गुस्से से उफनते हुए कहा।

'इतने दिनों बाद आज ही तो बैठे हैं बेचारे।' उन्होंने शांत स्वर में कहा, 'खेलने का तो बहाना है। दरअसल ये लोग तो अपनी मॉनोटॉनी से, ऊब से भागकर यहां आते हैं। ऐसा न करें, तो अपने पेशे में ही दफन हो जायेंगे ये सब।'

मुझे इस वक्तव्य में कोई दिलचस्पी नहीं थी, इसलिए मैंने कहा, 'दरअसल आपसे पूछने आयी थी, आप कॉफी लेंगी? मैं सबके लिए बना रही हूं।'

'चलेगी। और हां, आपकी परम पूज्यनीय बुआजी कहां हैं? बड़ी

देर से उनकी गर्जना नहीं सुनाई दी।'

मुझे आश्चर्य होता है, इतनी तीखी वात भी मम्मी कितने स्वाभाविक ढंग से कह जाती हैं।

'वुआजी आज थोड़ा पुण्य संचय करने गयी हैं।'

'अच्छा! तव एक काम करो। सवकी कॉफी यहीं ले आओ। कुछ जरूरी वातें करनी हैं।'

वुआजी की अनुपस्थिति का लाभ हर कोई उठाना चाहता है, मैंने सोचा और किचन का रुख किया।

'आप क्यों दिनभर इन चिट्ठियों में दिमाग खपाती हैं। एक अच्छा-सा मैटर प्रिंट करवा लेते।' वड़े भैया ने उस कॉफी-पार्टी का मौन तोड़ते हुए कहा।

'मेरे पास करने को अव है ही क्या। चिट्ठियां लिखते हुए कुछ समय तो कट जायेगा।'

'मम्मी, आप मेरे साथ चलिए न।' इतने दिनों से मन में घुमड़ती वात को मैं आज कह पायी।

'पगली! जाना ही होगा, तो पहले अपने लड़कों के पास नहीं जाऊंगी।' मम्मी ने अजीव-से वुजुर्गाना अंदाज में कहा।

'श्योर-श्योर।' वड़े भैया वोल उठे और काफी देर तक भाभी को इशारा करते रहे। पर जान-वूझकर वे एक पत्रिका के पन्ने पलटती हुई उन्हें अनदेखा करती रहीं। वंवई के अपने ढाई कमरों वाले फ्लैट में शायद वे मम्मी को एडजस्ट नहीं कर पा रही थीं···और छोटे भैया से ऐसी उम्मीद ही व्यर्थ थी।

एक अजीव-सी चुप्पी कमरे में फिर घिर आयी थी। मम्मी ने ही उसे तोड़ते हुए शुरूआत की, 'मैं ऊपर की मंजिल किराये पर देने की सोच रही हूं।'

'किराये पर, क्यों?'

'इतने वड़े घर में मैं अकेली कैसे रह पाऊंगी? और···और मुझे पैसों की भी जरूरत है।'

एक अजीब-सी शर्म से हम लोग भीतर-ही-भीतर सिकुड़ गये। सचमुच मम्मी के हिस्से क्या आया था, सिर्फ यह मकान। पापा की पुस्तकों की रायल्टी भी थी, पर वह कितनी होगी! गंभीर, विद्वत्तापूर्ण विवेचनात्मक पुस्तकें थी वे—उपन्यास तो थे नहीं कि हाथों-हाथ बिक जाते। पापा ने अपनी सारी पुस्तकें कॉलेज को दे दी थीं। मां के भारी-भरकम गहने बहुओं में और मुझमें बंट गये थे। थोड़ी-बहुत जमापूंजी थी, उसमें सबका हिस्सा था···और एक प्रोफेसर की कमाई होती ही कितनी है। मम्मी ने ठीक ही तो सोचा है। जीवनयापन के लिए कुछ तो चाहिए।

'मैं यह सोच रही थी कि यहां से जो सामान जिसे अच्छा लगता हो, लेते जाओ। उतनी-सी जगह में सारा सामान समायेगा नहीं।' मम्मी शांत स्वर में कह रही थीं।

'लेकिन मम्मीजी,' इतनी देर बाद छोटी भाभी का मुंह खुला, 'सब लोग आ जाते हैं, तो घर आज भी छोटा पड़ता है। फिर तो बहुत ही मुश्किल होगी।'

'सब लोग कब-कब आते हैं, अणिमा! उनके सामने ही कितनी बार आये हो तुम लोग!' मम्मी ने अपने उसी सहज स्वर में चोट की। छोटी भाभी का मुंह इतना-सा निकल आया।

'एक बात और पूछनी थी। इस घर के प्रति तुम लोगों को कोई मोह तो नहीं है?'

'क्या मतलब?'

'मैं इसे शकुन के नाम कर जाना चाहती हूं।'

स्तब्ध रह गये हम लोग। दीदी के नाम? क्यों? मम्मी को सबसे ज्यादा तिरस्कार, उपेक्षा, अवज्ञा जिनसे मिली, उन्हीं के नाम इतना बड़ा दान! क्यों? (सच कहूं तो मुझे कुछ कचोट-सी हुई। मैं अपने को सबसे ज्यादा मम्मी के निकट पाती थी)।

'हमें कोई एतराज नहीं है मम्मी, पर मैं नहीं सोचता, दीदी अब लौटेंगी। वे तो वहीं सेटल हो चुकी हैं।' बड़े भैया ने जैसे सबके मन की बात कह दी।

'न आये तो ठीक ही है, वह जहां भी रहे, सुख से रहे। लेकिन अगर किसी दिन लौटना भी चाहे, तो यहां उसका ठिकाना तो होना चाहिए कि

देर से उनकी गर्जना नहीं सुनाई दी।'

मुझे आश्चर्य होता है, इतनी तीखी बात भी मम्मी कितने स्वाभाविक ढंग से कह जाती हैं।

'बुआजी आज थोड़ा पुण्य संचय करने गयी हैं।'

'अच्छा! तब एक काम करो। सबकी कॉफी यहीं ले आओ। कुछ जरूरी बातें करनी हैं।'

बुआजी की अनुपस्थिति का लाभ हर कोई उठाना चाहता है, मैंने सोचा और किचन का रुख किया।

'आप क्यों दिनभर इन चिट्ठियों में दिमाग खपाती हैं। एक अच्छा-सा मैटर प्रिंट करवा लेते।' बड़े भैया ने उस कॉफी-पार्टी का मौन तोड़ते हुए कहा।

'मेरे पास करने को अब है ही क्या। चिट्ठियां लिखते हुए कुछ समय तो कट जायेगा।'

'मम्मी, आप मेरे साथ चलिए न।' इतने दिनों से मन में घुमड़ती बात को मैं आज कह पायी।

'पगली! जाना ही होगा, तो पहले अपने लड़कों के पास नहीं जाऊंगी।' मम्मी ने अजीब-से बुजुर्गाना अंदाज में कहा।

'श्योर-श्योर।' बड़े भैया बोल उठे और काफी देर तक भाभी को इशारा करते रहे। पर जान-बूझकर वे एक पत्रिका के पन्ने पलटती हुई उन्हें अनदेखा करती रहीं। बंबई के अपने ढाई कमरों वाले फ्लैट में शायद वे मम्मी को एडजस्ट नहीं कर पा रही थीं···और छोटे भैया से ऐसी उम्मीद ही व्यर्थ थी।

एक अजीब-सी चुप्पी कमरे में फिर घिर आयी थी। मम्मी ने ही उसे तोड़ते हुए शुरूआत की, 'मैं ऊपर की मंजिल किराये पर देने की सोच रही हूं।'

'किराये पर, क्यों?'

'इतने बड़े घर में मैं अकेली कैसे रह पाऊंगी? और···और मुझे पैसों की भी जरूरत है।'

एक अजीब-सी शर्म से हम लोग भीतर-ही-भीतर सिकुड़ गये। सचमुच मम्मी के हिस्से क्या आया था, सिर्फ यह मकान। पापा की पुस्तकों की रायल्टी भी थी, पर वह कितनी होगी ! गंभीर, विद्वत्तापूर्ण विवेचनात्मक पुस्तकें थी वे—उपन्यास तो थे नहीं कि हाथों-हाथ बिक जाते। पापा ने अपनी सारी पुस्तकें कॉलेज को दे दी थी। मां के भारी-भरकम गहने बहुओं में और मुझमें बट गये थे। थोड़ी-बहुत जमापूंजी थी, उसमें सबका हिस्सा था···और एक प्रोफेसर की कमाई होती ही कितनी है। मम्मी ने ठीक ही तो सोचा है। जीवनयापन के लिए कुछ तो चाहिए।

'मैं यह सोच रही थी कि यहां से जो सामान जिसे अच्छा लगता हो, लेते जाओ। उतनी-सी जगह मे सारा सामान समायेगा नही।' मम्मी शात स्वर मे कह रही थी।

'लेकिन मम्मीजी,' इतनी देर बाद छोटी भाभी का मुंह खुला, 'सब लोग आ जाते हैं, तो घर आज भी छोटा पड़ता है। फिर तो बहुत ही मुश्किल होगी।'

'सब लोग कब-कब आते हैं, अणिमा ! उनके सामने ही कितनी बार आये हो तुम लोग !' मम्मी ने अपने उसी सहज स्वर में चोट की। छोटी भाभी का मुंह इतना-सा निकल आया।

'एक बात और पूछनी थी। इस घर के प्रति तुम लोगों को कोई मोह तो नहीं है ?'

'क्या मतलब ?'

'मैं इसे शकुन के नाम कर जाना चाहती हूं।'

स्तब्ध रह गये हम लोग। दीदी के नाम ? क्यो ? मम्मी को सबसे ज्यादा तिरस्कार, उपेक्षा, अवज्ञा जिनसे मिली, उन्ही के नाम इतना बडा दान ! क्यों ? (सच कहूं तो मुझे कुछ कचोट-सी हुई। मैं अपने को सबसे ज्यादा मम्मी के निकट पाती थी)।

'हमें कोई एतराज नहीं है मम्मी, पर मैं नहीं सोचता, दीदी अब लौटेंगी। वे तो वहीं सेटल हो चुकी हैं।' बड़े भैया ने जैसे सबके मन की बात कह दी।

'न आये तो ठीक ही है, वह जहा भी रहे, सुख से रहे। लेकिन अगर किसी दिन लौटना भी चाहे, तो यहा उसका ठिकाना तो होना चाहिए कि

था, 'कुछ मंज़िलें ऐसी होती हैं रणजीत, जहां से लौटने की राह नहीं होती।'

रात के घुप्प अंधेरे में यह बात एकदम बिजली की तरह कौंध गयी। दीदी की बात कहते हुए मम्मी क्या अपना ही इतिहास नहीं दोहरा रही थीं! दीदी की शादी तो महज एक अप्रिय घटना थी, पर मम्मी की शादी तो अपने साथ एक तूफ़ान लायी थी। उम्र के इस पड़ाव पर खड़े होकर पता लगता है, मम्मी ने कितना उपहास सहते हुए यह कदम उठाया था। कितना भरा-पूरा ममतामय परिवार पीछे छोड़ आयी थीं वे और स्वागत को थे चार-चार जवान होते हुए बच्चे, जिनके हृदय प्रतिहिंसा और विद्वेष से धधक रहे थे। और पाटने को कितनी खाइयां थीं—जाति की, भाषा की, संस्कारों की और सबसे बढ़कर उम्र की।

कैसे निभाया होगा उन्होंने यह सब? कैसे काटे होंगे ये लम्बे बारह वर्ष? कैसे जीवित रख पायीं अपनी अस्मिता, अपना अहं?

मन एकदम पीछे दौड़ गया था। मई की उस बेफिक्र सुबह में हम चारों नाश्ते की मेज़ पर थे। पर रोज़ की तरह चीख-पुकार, छीना-झपटी, शोर-शराबा कुछ नहीं हो रहा था। महाराज को अपनी शालीनता से चौंकाते हुए हम लोग चुपचाप कौर मुंह में ठूंसे जा रहे थे। मेज़ के बीचों-बीच पड़ा तार का गुलाबी कागज़ हम सबको मुंह चिढ़ा रहा था।

'नीरजा से शादी कर ली है
रविवार को पहुंचूंगा —पापा

उस छोटे-से वाक्य ने जैसे हम सबके मुंह के शब्द छीन लिये थे। और फिर एकाएक छोटे भैया मेज़ पर मुक्का मारकर चीखने लगे, 'मैं उसे घर से बाहर निकाल दूंगा और बुढ़ऊ को शूट कर दूंगा।'

'बकवास मत करो!' बड़े भैया गुर्राये।

'मुझे तो पहले ही पता था।' दीदी बोलीं।

'बकवास मत करो!' बड़े भैया फिर गुर्राये, 'किसी को कुछ पता नहीं था। यह केवल सरप्राइज की तरह हुआ। ए हेटफुल सरप्राइज।'

'बकुल तो बड़ी खुश हो रही होगी। मोस्ट फेवरिट नीरू दीदी...'

'क्या नीरू दीदी तुम्हारी फेवरिट नही थी ?' मैंने तड़पकर कहा और सब एकदम चुप हो गये ।

मैंने झूठ नही कहा था । मा के बिना भांय-भाय करते हुए इस घर के लिए नीरू दीदी सचमुच वरदान थी । हम सभी अपनी-अपनी जरूरतों के लिए उनका मुह तकते थे । बड़े भैया उनका बुना स्वेटर पहने बड़ी शान से कॉलिज जाते थे । कॉलेज से लौटकर छोटे भैया बड़ी शान से चाय-नाश्ते की फरमाइश करते थे । मेरे लिए तो वे सबसे बड़ा आश्रय-स्थान थी । मा की याद जब असह्य हो उठती, तब उन्हीं की गोद मे मुह छिपाकर रो लिया करती थी । इसके अतिरिक्त डिबेट्स के लिए पाइट्स तैयार करना, समारोह के लिए फैन्सी ड्रेस चुनना, रविवार के दिन धुले हुए बालो को सुलझाना—सारे काम उन्ही को सौंपकर मैं निश्चित हो जाती थी । दीदी के पास इन फालतू कामो के लिए वक्त कहा था । एक तो मेडिकल की पढाई, दूसरे किशोर भाई ··बस, उनका सारा समय इन्ही मे बीतता था । इसी-लिए हर छोटी-छोटी बात के लिए नीरू दीदी का सहारा लेना पड़ता ।

इस सबके बावजूद उनका यू अचानक मा की जगह ले लेना किसी को अच्छा नही लगा—मुझे भी नही ।

टैक्सी रुकी, तो हम लोग खिड़कियो से झाक-झाककर देखने लगे । अपना सूटकेस लेकर नीरू दीदी उतरी थी, अकेली । वे चटनी कलर की कामदार चंदेरी साड़ी पहने थी । प्यारा-सा खूब बडा-सा जूड़ा बना रखा था । माथे पर बड़ा-सा गोल टीका था और माग मे दप-दप करती गाढ़ी सिंदूर की रेखा थी । नीरू दीदी एकदम अलग लग रही थी...और खूब अच्छी ।

'हलो एवरीबडी !' कुछ ही पल में उनके अभ्यस्त चरण उन्हे डायनिंग रूम के दरवाजे तक ले आये थे । दोनो भैया तो पता नही कब से खिसक गये थे । लेकिन दीदी अपनी नाराजगी का खुला प्रदर्शन करती हुई उनके सामने से निकल गयी । मुझे कुछ सूझ ही नही पड़ा, मैं वही कुर्सी से चिपकी बैठी रह गयी । क्षणभर पहले खिले गुलाब-सा लगनेवाला उनका चेहरा एकदम मुरझा गया ।

'पापा कहा हैं ?' बड़ी देर बाद मैंने पूछा ।

'यूनिवर्सिटी गये हैं। डीन ऑफ फैकल्टीज की मीटिंग थी शायद।' उन्होंने बुझी-सी आवाज़ में कहा।

इतना गुस्सा हो आया पापा पर। यहां परिस्थिति से जूझने के लिए उन्हें अकेले भेज दिया और खुद कायर की तरह यूनिवर्सिटी में जाकर दुबक गये।

एकाएक मुझे उन पर ममता हो आयी। अपनी कुर्सी खिसकाते हुए मैंने कहा, 'दीदी, आप बैठिए न ! मैं अभी चाय के लिए कहकर आती हूं।'

लौटकर देखा, नीरू दीदी टेबल पर सिर डाले चुपचाप बैठी हैं।

आंखों में एक अजीब-सा सूनापन घिर आया है।

'दीदी, चाय लीजिए। नाश्ता अभी लेंगी या पापा के साथ?'

मैंने कुछ-न-कुछ बोलते रहने की गरज से कहा।

'तार कब मिला?'

'अभी-अभी।'

'बहुत नाराज हो न तुम लोग!'

'दीदी, आप चाय ले लीजिए, ठंडी हो रही है।'

'बकुल!' इस बार उनकी आवाज़ खूब कांप रही थी, 'प्लीज, मुझे मम्मी कह सकोगी?'

मैं स्तब्ध होकर देखती रह गयी।

'औरों से तो कहने की हिम्मत नहीं है, पर तुम पर शायद थोड़ा अधिकार है।'

'इस औरत के साथ मैं इस घर में नहीं रह सकती।' दीदी ने एक दिन अपना फैसला सुना दिया। उनकी इंटर्नशिप शुरू हो गयी थी। हर महीने एक छोटी रकम उनके हाथ आ रही थी, इसीलिए वे पापा से इस टोन में बात कर सकीं। यह तो अच्छा था कि नीरू दी—सॉरी मम्मी, वहां नहीं थीं। वे बहुत ही कम नीचे उतरतीं। पापा भी ऊपर अपने कमरे ही में रहते। पहले की तरह वहां दौड़-दौड़ जाना अब मुझे अच्छा नहीं लगता। किसी ने मुझे ये बातें सिखायी नहीं थीं, पर पता नहीं क्यों, अब इच्छा नहीं होती.

थी। पापा भी अब उतने अपने-से नहीं लगते थे।

दीदी के चले जाने के बाद एक दिन बड़े भैया ने अपने स्वर में कहा, 'पापा, इस साल मेरा फाइनल है। सोचता हूं, होस्टल में रह जाऊंगा, तो ठीक से पढ़ाई हो सकेगी।'

'अच्छी बात है,' पापा ने कहा 'अभय, तुम ?'

'होस्टल।' छोटे भैया का दो टूक उत्तर था।

मुझे डर हुआ, अब शायद मुझसे पूछेंगे। दरअसल मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। घर से बाहर रहने का कभी अवसर नहीं आया था। और घर भी अब पहले का-सा नहीं लग रहा था।

सब लोगों के चले जाने के बाद तो एकदम ही खाली-खाली-सा लगने लगा था। खाने की मेज पर हम तीनों ही होते। मेरा खूब लाड़ होता, पर मैं पहले की तरह चहकना ही भूल गयी थी। घूमने जाते समय मम्मी-पापा मुझे साथ ले जाते थे। पर हर बार अपनी उपस्थिति बहुत गैर-जरूरी-सी लग उठती थी और सारा उत्साह फीका पड़ जाता था।

यूं भी घर से बाहर निकलना सुखद नहीं था। लोगों की आंखें और फुसफुसाहटें हमारा पीछा करती होतीं। छुट्टियां तो हम लोगों ने ताश-कैरम के सहारे गुजार दी थीं, लेकिन स्कूल-कॉलेज खुलते ही हम लोग परेशान हो उठे। लड़कियां इतने ऊटपटांग प्रश्न पूछतीं, टीचर्स कुछ ऐसी नजरों से मुझे देखतीं कि भाग जाने की इच्छा हो जाती। और जब ये बातें घर के भीतर भी पहुंचने लगीं तो अपमान और लज्जा के ये क्षण बहुत ही कठिन होते। मेरे कारण तो और भी ज्यादा। और इसीलिए एक सुबह मेरे लिए भी होस्टल का निर्णय ले लिया गया। दीदी होस्टल में मिलने आयी थी, छूटते ही बोली, 'चलो, यह भी अच्छा हुआ। सारी भीड़ छंट गयी। लोग-बाग अब जी भरकर हनीमून मनायेंगे।'

सुनकर अच्छा नहीं लगा। कम-से-कम पापा का लिहाज तो जरूरी था। लेकिन इतना ऊंच-नीच दीदी रानी कब सोचती थी।

शुरू-शुरू में होस्टल अच्छा नहीं लगा था। रविवार की बेसब्री से प्रतीक्षा रहती। पापा लेने आते, तो लगता, पिंजरे से छूटकर भाग रही हूं। घर का दिनोंदिन निखरता-संवरता रूप अच्छा लगता। बरामदे में

खड़ी बाट जोहती मम्मी बहुत अपनी लगतीं।

पर धीरे-धीरे यह कार्यक्रम रुटीन बन गया और उसमें भी ऊब महसूस होने लगी। सहेलियों को छोड़कर घर के उस एकांत सुनसान में जाने से जी कतराने लगा। रविवार की छुट्टी बरबाद करने की इच्छा नहीं होती।

अच्छा हुआ, मम्मी-पापा जल्दी ही इसे समझ गये। वैसे भी उन्हें समझाने के सौ बहाने मेरे पास थे—कभी पढ़ाई का, कभी पिकनिक, तो कभी पिक्चर का।

उस दिन हम सबको स्कूल-बस से पातालपानी ले जाया गया था। फॉल के सिरे पर बस के रुकते ही हम सब लोग कूद पड़े थे। एक होड़-सी थी—ऊबड़-खाबड़-सी पहाड़ी सीढ़ियों को लांघकर कौन सबसे पहले पानी के पास पहुंचेगा। मैं सबसे आगे थी, क्योंकि बीसों बार देखी हुई जगह थी मेरी। लेकिन कुछ दूर जाकर ही मैं ठिठक गयी। सामने कुछ दूर पर किशोर भाई अपनी मोटर साइकिल लिये दोस्तों के साथ खड़े थे।

'जीजाजी!' मैंने आवाज़ दी और दौड़कर उसके पास पहुंच गयी। दीदी लोग डांटेंगी, इसका भी ध्यान नहीं रहा।

'जीजाजी, नमस्ते।' मैंने खुशी से किलकारियां भरते हुए कहा। उन्होंने पलटकर देखा, चेहरे पर जैसे बर्फ़ जमी हुई थी।

'मेरा नाम जानती हो, बकुल?' बहुत ही सख्त स्वर में उन्होंने कहा, 'मुझे मेरे नाम से बुलाया करो।'

मैं फटी-फटी आंखों से देखती रह गयी। पीछे से किसी ने पुकारा, तब जाकर होश आया कि मैं अपना ही तमाशा बना रही हूं। किसी तरह चलकर अपने ग्रुप तक पहुंच पायी मैं।

आउटिंग का सारा मूड तो हवा हो ही चुका था।

उसके कई दिनों बाद दीदी से मुलाकात हो पायी थी। उन्हें देखते ही अपमान की कड़वी याद ताजी हो आयी और मेरी आंखें डबडबा आयी थीं, 'आपके किशोर भाई ने इतनी इंसल्ट की थी हमारी उस दिन। मैं अब कभी भी उनसे बात नहीं करूंगी।' मैंने मुंह फुलाकर कहा।

'मत करना, वह तुम्हें मनाने भी नहीं आयेगा।' दीदी का स्वर और

चेहरा इतना रूखा था कि मैं सहम-सी गयी…'और अब वह मेरा किशोर भी नहीं है।' बड़ी देर बाद उन्होंने सपाट स्वर में कहा।

क्यों ?

लेकिन प्रश्नों के उमड़ते सैलाब को मन ही में रोक लेना पड़ा। दीदी से कुछ पूछने का साहस नहीं था। और फिर कुछ दिन बाद तो वह बात भूल भी गयी मैं।

फिर पता नहीं कैसी छुट्टी थी, पर इतना याद है कि दो दिन के लिए घर गयी हुई थी। होस्टल की अनुशासन-बद्ध जिंदगी के बाद नौ बजे तक बिस्तर में लेटना बडा प्यारा मालूम हो रहा था। नींद तो क्या आती, पर लिहाफ में लेटने का सुख छोड़ते नहीं बन रहा था।

'बकुल, देख तो !' पापा एकाएक मेरे कमरे में आये, तो मैं चौंक पड़ी। एक अरसा हो गया था, वे मेरे कमरे में नहीं आये थे। मैं हड़बडा-कर उठ बैठी।

'यह कार्ड देख।' उन्होंने एक 'वेडिंग कार्ड' मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा। बचपन में बडा शौक था मुझे 'ग्रीटिंग कार्ड्स' और 'वेडिंग कार्ड्स, इकट्ठा करने का। पर अब वे बातें कितनी दूर की लगती थीं, हालांकि अभी मैं औरों के लिए 'स्कूल-गर्ल' ही थी।

'कितना प्यारा है न !' मैंने उस लंबे-चौड़े कार्ड के सुनहले, मखमली धरातल पर हाथ फेरते हुए, जरी के धागे से खेलते हुए कहा।

'खोलकर तो देख।' पापा ने कहा। मैंने खोला और दो बड़े-बड़े शब्द मेरी आंखों में चुभ गये—

किशोर
और
भारती

जबकि कायदे से यहां नाम दीदी का होना था।

'यह कैसे हो सकता है ?' और इसके साथ ही मुझे दीदी से पिछली-वाली मुलाकात याद हो आयी।

'तैयार हो जा बकुल, शकुन के पास चलते हैं।' पापा ने कहा और उठकर चले गये।

मैं साथ जाकर क्या करूंगी, मैंने सोचा। पर शायद पापा अकेले नहीं जाना चाहते थे। मन-ही-मन दीदी से डरते थे शायद। और मम्मी के साथ जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

चले तो थे हम दीदी के होस्टल के लिए। लेकिन पापा ने जब स्कूटरवाले को राज मुहल्ले का पता दिया, तो मैं चौंक पड़ी, 'हम लोग कहां जा रहे हैं?'

'किशोर के यहां।' पापा ने जवाब दिया। उनकी आवाज़ जैसे बहुत दूर से आ रही थी।

राज मुहल्ले के उस आलीशान बंगले पर वैसी ही हलचल थी, जैसी अकसर शादीवाले घरों में हुआ करती है। ढेर सारे लोग और ढेर सारा सामान इधर-उधर बिखरा था।

जज साहब हमें देखते ही इस कदर झेंप गये कि ढंग से नमस्ते भी न करते बनी। लेकिन पता नहीं कहां से माताजी पहुंच गयीं और इन्होंने मौके को बड़ी खूबसूरती से संभाल लिया। लंबी-चौड़ी मुसकराहट बिखेरते हुए बोलीं, 'अहा, डॉक्टर साहब आये हैं। कार्ड तो मिल गया होगा न। मैंने कल ही पोस्ट करवाये हैं।'

'जी, मिल गया था, तभी तो हाजिर हुआ हूं।' (क्या यह पापा ही बोल रहे थे?)

'वह तो आपको आना ही था, घर के आदमी हैं आप तो। यह कौन, आपकी छोटी बेटी है न! एकदम लंबी हो गयी है। हू-ब-हू अपनी मां पर गयी है।'

'किशोर की शादी एकाएक तय हो गयी, हमें पता भी न चला।' बहुत ही सधे हुए स्वर में कही गयी इस बात से जज साहब सहमकर रह गये। पर माताजी बड़ी ही पुख्ता मिट्टी की बनी हुई थीं। परेशान-सी मुद्रा बनाकर बोलीं, 'अब आपको क्या बताऊं! लड़कीवालों ने हमारी नाक में दम कर रखा था। पिछले छह-सात महीनों में तो यह हाल रहा कि सुबह एक आ रहा है, तो शाम को दूसरा। किस-किस को मना करें, और मना करने का कोई कारण भी तो हो। इन मसूरीवालों ने तो हद कर दी। लड़की यहां दिखाने ले आये और बोले—पसंद हो, तो बोलिए, हम

शगुन करके ही आयेंगे। दरअसल उन्हे जरा जल्दी थी। दोनों बड़े लडके इंग्लैंड मे हैं। उनकी छुट्टियां खत्म होने मे हैं। बताइए, बार-बार इतनी दूर से आया जाता है कही। फिर हमने भी सोचा, लड़की अच्छी है, घर भी अच्छा है। बेकार देर करने से क्या लाभ ! एक बार लड़कों की उम्र निकल जाए, तो फिर अच्छे संबंध भी नही आते।'

'मेरा खयाल था, आप लोग शकुन के बारे मे जानते होंगे। फर्स्ट इयर से दोनो साथ हैं।' पापा ने किसी तरह उनकी मेल ट्रेन को बीच ही मे रोककर कहा।

'वो तो कोएजुकेशन का जमाना है जी।' जज साहब ने इतनी देर बाद मुंह खोला, 'और फिर मेडिकल मे तो ये लोग इतने फ्री होते है कि कुछ पता ही नही चलता।'

पापा का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा।

माताजी फिर मौके की नज़ाकत को समझकर बोली, 'हाय डॉक्टर साहब, आप इतनी देर बाद आये है। कार्ड्स न छपे होते, तो मैं सगाई भी तोड देती। शकुन इस घर मे आती तो मुझसे ज्यादा खुश कौन होता। देखी-भाली लड़की है, फिर घर मे सभी उसे चाहते हैं। पर देखिए न, इस तरह की कभी कोई बात ही नही उठी। किशोर भी अगर कभी कुछ कहता...'

'किशोर ने भी कुछ नही कहा ? तब तो फिर मुझे कुछ नही कहना है।' और पापा एकदम उठकर चल दिये। चाय की प्यालिया और मिठाई की तश्तरिया मुंह चिढाती रह गयी।

'मैं अपनी शकुन के लिए ऐसा राजकुमार लाऊंगा कि ये लोग देखते रह जायेंगे।' तागे में बैठते हुए पापा ने गुस्से मे दात पीसते हुए कहा। उनके चेहरे पर करुणा, वात्सल्य और रोष का मिला-जुला भाव था। बहुत दिनों बाद वे मुझे पहलेवाले पापा लगे थे। पापा, जो बच्चो को बेहद प्यार करते थे—खासकर दीदी को। पहली सतान होने के कारण उनकी सारी ममता, सारी आकांक्षाएं दीदी पर केन्द्रित थी। दीदी को लेकर अकसर वे मा से लड पड़ते थे। कहते, 'उसे परेशान मत किया करो। उसे तुम्हारी तरह चूल्हा-चौका नही करना है जिंदगी भर।'

मा भुनभुनाकर चुप हो जाती। पर जब भी कोई बात पापा मे मनवानी

होती, तो दीदी को ही आगे किया जाता। हम भाई-वहनों को भी यह रहस्य ज्ञात था। घर में कोई भी नयी चीज़ आती, उसके लिए दीदी की सिफ़ारिश जरूरी थी। त्योहारों पर मिठाई भी वनती, तो उनकी फरमाइश पर। छुट्टियों का प्रोग्राम भी वनता, तो उनकी पसंद से। मां की मृत्यु के वाद तो जैसे घर में उनका एकछत्र साम्राज्य हो गया था।

मम्मी के घर में आते ही दीदी अपने उस सार्वभौम साम्राज्य को छोड़कर होस्टल के इस कमरे में आ गयी थीं। उनके प्रति अन्याय से क्षुब्ध, उनकी व्यथा से भीगे पापा जव उस कमरे तक पहुंचे, तव वे सो रही थीं।

'आज हॉस्पिटल नहीं गयीं?' मैंने पूछा।

'नहीं, आज छुट्टी थी।' कमरे के वीचोंवीच स्टूल पर रखा हुआ किशोर भाई की शादी का कार्ड देखकर छुट्टी का कारण समझ में आ गया और इस वेवक्त की नींद का भी।

अलमारी में एक पत्रिका पड़ी थी। उसे लेकर मैं तो खिड़की पर जा वैठी। उस छोटी-सी जगह में इससे ज्यादा दूर जाना संभव भी नहीं था। पापा ने जैसे प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी। वड़ी देर वाद दीदी ने वस इतना ही कहा, 'उसकी इच्छा थी कि दूसरे वधु-पिताओं की तरह आप भी थैली लेकर क्यू में खड़े हो जाते।'

'किशोर की इच्छा थी?'

'इच्छा शायद उसके मां-वाप की थी, पर उसने उनका विरोध भी नहीं किया था। इकलौता लड़का है न, मां-वाप का मन कैसे तोड़ देता वेचारा!'

'और इतनी-सी वात के लिए तूने...'

'वात छोटी थी, पर अपमानजनक थी। मुझसे सहन नहीं हुआ।'

'मुझसे एक वार कहना तो था, पगली!'

'किसी की वात सुनने की आपको फुरसत ही कहां थी!' दीदी ने जैसे पत्थर फेंककर मारा। पत्रिका के पन्नों पर यूं ही घूमनेवाली नज़रों को उठाकर मैंने देखा, वेदना से पापा का चेहरा काला पड़ गया था। मुझे भी वहुत वुरा लगा। वात चाहे सच ही हो, उसे क्या इस तरह मुंह पर फेंककर मारना चाहिए।

लेकिन सारा दुःख, सारा अपमान पीकर भी पापा जी-जान से दीदी के लिए वर खोजने में जुट गये थे। हायर सेकंडरी की परीक्षा से निवृत्त होकर घर पहुंची थी, तो पापा ने जन्म-कुंडलियों की कॉपी करने का काम मुझे सौंप दिया था। रोज की डाक में कम-से-कम एक पत्र तो ऐसा होता, जिसमें किसी नये रिश्ते का पता-ठिकाना होता, या कोई फोटो या जन्म-कुंडली होती। दस नामों में एक-दो लड़के ऐसे निकलते, जिन्हें दीदी के योग्य समझा जाता। उन लोगों के ही फोटो मंगाये जाते।

मेरे जन्मदिन का बहाना लेकर उस दिन दीदी को घर बुला लिया गया था। खाना खाते हुए पापा बिलकुल सहज स्वर में बोले, 'शाम को दोनों बहनें जाकर एक फोटो खिंचवा आना। यादगार रहेगी।'

स्टूडियो में मैंने मचलते हुए कहा था, 'दीदी, एक फोटो अपनी अलग से उतरवाइए न।'

'पापा ने सिखाकर भेजा होगा, क्यों?' उन्होंने मुझे घूरते हुए पूछा। फिर हंस पड़ी और एक प्यारा-सा पोज लेकर कैमरे के सामने बैठ गयी। अपनी इस सफलता पर मैं फूली न समाती थी। पापा ने भी मुझे खुश होकर शाबाशी दी थी। रात के खाने पर भी उनका मूड बहुत अच्छा रहा था। कई दिनों बाद उनके ठहाके, उनके लतीफे सुनाई दे रहे थे।

छोटे भैया ने तो कुटिलता से व्यंग्य भी किया, 'आज पापा को क्या हो गया है?'

उठते हुए पापा ने कहा, 'खाना खा लो तो पांच मिनट के लिए मेरे पास आना। जरूरी काम है।'

'जी, बहुत अच्छा।' दीदी जैसे आज शालीनता की [illegible] थीं। दीदी के पीछे-पीछे दबे पांव मैं और छोटे भैया भी [illegible] पर्दे की आड़ में सांस रोके खड़े रहे।

पापा की मेज पर पांच-छह फोटो पड़े हुए थे [illegible] सबका वर्णन कर रहे थे। अंत में बोले, 'मुझे कोई जल्दी नहीं है [illegible] से सोच-समझकर मुझे बताना। छुट्टियां [illegible] निकल जाऊंगा। इस साल मुझे यह काम [illegible]

दीदी इतनी देर तक मूर्तिवत् बैठी सुन रही थीं। उन्होंने एक नजर भी उठाकर उन तसवीरों पर नहीं डाली थी। पापा के चुप होते ही बोलीं, 'पापा ! इस जून में मैं कैलिफोर्निया जा रही हूं।'

'क्या ?' हम लोगों के मुंह से भी हठात् निकल पड़ा और हम डर के मारे भाग खड़े हुए।

किसी समय पापा का सबसे बड़ा सपना था, दीदी को अमरीका भेजने का। कर्ज लेकर भी वे अपनी ज़िद पूरी करते। पर दीदी ने जिस तरह अपने आप सब-कुछ तय कर लिया था, उससे साफ़ ज़ाहिर था कि पापा को उन्होंने फ़ालतू सामान की तरह जीवन से अलग निकालकर फेंक दिया था।

इस धक्के से वे एकदम भीतर-ही-भीतर टूट गये थे। एकदम बूढ़े लगने लगे थे।

इस परिवर्तन को अनदेखा करके दीदी अपनी ही तैयारियों में व्यस्त थीं। दिनभर शॉपिंग में निकल जाता, सुबह-शाम मित्र-परिवारों में। कभी कोई प्रोग्राम बनता, कभी कुछ। जाने से आठ-दस दिन पहले बड़े भैया ही उन्हें घर लिवा लाये थे। पापा ने फिर कभी कुछ नहीं कहा था। सब-कुछ देखते रह गये थे। यह तो बाद में मेहता अंकल ने बताया था कि सिक्यूरिटी का प्रबंध भी पापा ने ही किया था और रुपयों की व्यवस्था भी। पर दीदी के रवैये से डरकर उसे जाहिर नहीं किया था।

और मम्मी ! वे इन दिनों कहां थीं ? घर के किसी कोने में जलने-वाली अगरबत्ती की तरह चुपचाप अपने अस्तित्व की सुगंध बिखेर रही थीं। पर हममें से किसी को भी उनका खयाल न था। इस तूफ़ानी दौर में भी घर अपनी सामान्य गति से चल रहा था, इसका श्रेय उन्हीं को था। दिनभर वे किचन में व्यस्त रहतीं, क्योंकि घर पर दिनभर लोगों का आना-जाना बना रहता था। इस आपाधापी के बीच भी उन्होंने दीदी के लिए एक शाल काढ़ा था, एक कार्डीगन बुना था। प्यारी-सी दो साड़ियां भी वे दीदी के लिए लायी थीं, पर एक छोटी-सी 'थैंक्यू' के अतिरिक्त दीदी ने उसका कोई प्रतिदान नहीं दिया था।

विदावाले दिन स्टेशन पर बंधु-बांधव, मित्र-परिवारों की अपार भीड़ उमड़ पड़ी थी। उतने-से समय में हर किसी से हंस-बोल पाना बड़ा कठिन काम था। पर दीदी बड़ी चतुराई से, कौशल से यह कठिन काम अंजाम दे रही थी। अपने गुरुजनों से, सहयोगियों से हमारा परिचय करवा रही थी। किसी को पत्र लिखने का वचन दे रही थीं, किसी को कोई वस्तु भेजने का वादा कर थी। अजीब-सी गहमागहमी थी वातावरण में।

पापा-मम्मी भीड से अलग-थलग एक कोने में खड़े थे। सच तो यह है, उनके इस तरह दूर खड़े होने का भान भी हमें नहीं था। गार्ड की सीटी होते ही दीदी को सबसे पहले याद आया। उन्होंने शीघ्रता से पापा के पैर छुए और मम्मी से कहा, 'अच्छा नीरू, बाऽऽय!' और भीड़ को चीरती हुई कंपार्टमेंट तक पहुंच गयी। पापा के निःशब्द आशीर्वाद उन तक पहुंचे भी या नहीं, कौन जाने।

गाड़ी जब चली, तब प्लेटफार्म पर कितने ही रूमाल लहरा रहे थे। मेरे हाथों में फूलमालाओं का ढेर था, जो दीदी को पहनायी गयी थी, और आखों में आंसू।

दोनों भैया दिल्ली तक दीदी के साथ गये थे। स्टेशन से भारी मन लिये हम तीनों ही लौट आये। घर जैसे काटने को दौड रहा था। पिछले आठ-दस दिन तक जैसे यह शादी का घर बना हुआ था। सारी रौनक एक व्यक्ति के जाते ही विदा हो गयी।

दिनभर हम लोग अपने-अपने कमरों में कैद रहे। कहीं जाने की, किसी से बात करने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। रात खाने की मेज पर ही हम लोग एकत्र हुए। उतनी बडी मेज पर हम तीनों—बस!

पहला कौर लेते ही पापा ने कहा, 'सब्जी में नमक नहीं है क्या?'

मम्मी ने चखकर देखा, 'ओह! भूल गयी शायद।'

'यह क्या बेहूदगी है!' पापा एकदम गरम हो उठे, 'एक चीज ढंग से नहीं बना सकतीं तुम? जिस दिन महाराज नहीं हो, उसी दिन खाना मिट्टी हो जाता है। किससे पूछकर छुट्टी दी उसे तुमने?'

मम्मी स्तब्ध होकर फटी-फटी आखों से उन्हें देखती रह गयी। यह शायद पहला अवसर था, जब पापा ने मम्मी से इतनी कठोर बात कही

थी। फिर तो जैसे यह सिलसिला-सा चल पड़ा। दिनभर मेरा मन घबराया-सा रहता कि पता नहीं कब, किस बात पर पापा गरम हो उठें। उनकी इस बमबारी के सम्मुख मम्मी निरीह लगतीं। कॉलेज की डिबेट्स में हमेशा इनाम जीतनेवाली मम्मी पापा के उन तर्कहीन आरोपों का कोई उत्तर नहीं दे पाती थीं। पर लगता था, कोई चीज़ है, जो धीरे-धीरे उनके भीतर ढहती जा रही है। उनका चेहरा देखकर इसका अहसास होता था।

कितने बदल गये थे पापा! अब तो यह बात कपोल-कल्पना-सी लगती थी कि इसी आदमी की पीठ पर मैंने कभी घुड़सवारी की है, कंधे पर चढ़कर अमरूद तोड़े हैं, गुड़िया के लिए या गुब्बारे के लिए ज़िद की है। और मां की मृत्यु के बाद इसी गोद में विश्राम पाया है।

छुट्टियां समाप्त हुई और साथ ही मेरी परेशानी भी। कॉलेज की रंगीन दुनिया मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। बड़े भैया बंबई की एक बड़ी कंपनी में चले गये थे और मेरे लिए अच्छा-खासा जेब-खर्च भेज देते थे। दीदी तो मेरे लिए उपहारों की वर्षा-सी कर रही थीं और मेरे पास इंपोर्टेड कपड़ों, सेंट्स और कॉस्मेटिक्स का ढेर लग गया था। जब भी कोई उपहार आता, मुझे बड़ा संकोच होता था। एकाध चीज़ मम्मी के लिए भेजतीं, तो क्या हो जाता।

पापा के लिए भी उन्होंने वहां से सिर्फ पहुंच की चिट्ठी लिखी थी, बस। बाकी तो हमारे पत्रों में प्रणाम भर रहता। बड़े भैया जरूर कभी-कभार एकाध कार्ड पापा को डाल देते थे। पर अकसर मेरे पत्र में ही दो-चार लाइनें उनके लिए लिख देते। बच्चों के साथ जैसे उनका संवाद टूट-सा गया था। छोटे भैया कभी-कभार दर्शन दे जाते—पैसों के लिए। पापा न पिछला हिसाब पूछते, न कारण पूछते। बस जो मांगते, वह हाथ में रख देते। बाप-बेटों में जैसे बस जरूरत भर का ही संबंध रह गया था।

मेरी बहुत इच्छा थी, होस्टल ज्वॉइन करने की। दो साल तक होस्टल में रहने के बाद घर पर अच्छा नहीं लगता था। फिर कॉलेज होस्टल का जीवन कुछ स्वच्छंदता से जीने की भी आशा थी। कम-से-कम स्कूल जैसी छोटी-छोटी बंदिशें तो वहां नहीं होतीं। पर मम्मी ने मुझे रोक

लिया। बोली, 'खाली घर काटने को दौड़ता है। तुम रहोगी, तो कुछ रौनक रहेगी।'

मजबूरन मुझे रह जाना पड़ा। रौनक तो खैर मेरे बलबूते पर क्या होती, पर लगा, मम्मी अकेलेपन से नहीं, पापा से खौफ खाने लगी है। इसीलिए अपना मनोबल बनाये रखने के लिए मेरा सहारा लिया जा रहा है। दिन-पर-दिन इसी एकरसता में बीत रहे थे और महीनों की शक्ल में बदल रहे थे।

सहसा एक दिन लगा कि इस मुर्दा माहौल में भी कुछ हलचल हो रही है। कुछ रौनक, कुछ गहमा-गहमी हो रही है। मालूम हुआ, पापा की नयी पुस्तक का विमोचन समारंभ है। खूबसूरत कार्ड्स छपकर आ गये थे, जिन पर मोटे अक्षरों में पुस्तक का नाम चमक रहा था— 'वेदकालीन भारत की सांस्कृतिक संपदा'। पापा की इससे पहले भी दो-तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, पर उनके प्रकाशन-समारोह की मुझे याद नहीं थी। शायद इतने बड़े पैमाने पर कुछ हुआ भी नहीं था। इस बार तो सचमुच एक उत्सव का-सा वातावरण था। मैंने बड़े भैया को सूचित कर दिया था और उनका बधाई का तार भी ठीक समय पर पहुंच गया था। लेकिन छोटे भैया जान-बूझकर 'टिड्ड फाल्स' देखने निकल गये थे। उनके जाने से वैसे कोई हानि भी नहीं हुई थी। पापा के ढेरों विद्यार्थी काम में जुट गये थे। बैठने की व्यवस्था से लेकर प्लेटें सजाने तक का काम उन्हीं लोगों ने किया था।

शाम को मम्मी एक रेशमी बातिक की साड़ी और ढीली-सी चोटी डालकर बैठ गयीं। मैं इतना कहती रह गयी, पर न उन्होंने कपड़े बदले, न हेयर स्टाइल। बड़ी मुश्किल से जिद करके एक बड़ा-सा पीला गुलाब उनके बालों में लगा पायी मैं, पर थोड़ी देर बाद देखा, वह भी नदारद था। मुझे देखकर अपराधी भाव से बोलीं, 'ठीक से पिन नहीं किया था क्या? पता नहीं, कहां गिर गया।'

मैं मुंह फुलाकर बैठ गयी। जब उन्हें ऐसे ही अच्छा लगता है, तो ठीक है। मुझे क्या गरज पड़ी है! पर गुस्से का उबाल धीरे-धीरे कम होने लगा, तो जैसे इस विराग का कारण मेरी समझ में कुछ-कुछ आने लगा।

पिछले महीने वार्षिकोत्सव पर मम्मी-पापा को मैं खींचकर कॉलेज ले गयी थी। मुझे चार पुरस्कार मिलने थे, इसीलिए पापा मेरा अनुरोध टाल नहीं पाये थे।

कॉलेज कैम्पस में प्रवेश करते ही सहेलियों ने मुझे घेर लिया था, 'तेरी दीदी कब आयी रे अमरीका से ? छुट्टी पर आयी है, या हमेशा के लिए आ गयी है ?'

'धत् पगली ! ये तो उसकी मम्मी हैं।' किसी ने बताया था।

'हाय मम्मी ?' वह चीखी थी, 'हाय राम ! कितनी यंग लगती हैं।'

'स्टेप मदर हैं।' कोई फ़ुसफुसाया था।

'सच्ची ? कितनी स्वीट हैं न !'

इस बातचीत से मैं संकोच से भर उठी थी। सचमुच मम्मी उस दिन बड़ी 'स्वीट' लग रही थीं। प्याजी रंग की बनारसी साड़ी मे उनका गोरा रंग निखर आया था। मेरी ज़िद पर उन्होंने अपना बारीक मोतियोंवाला सेट पहन लिया था। उनका सजा-संवरा व्यक्तित्व देखनेवालों को बांधे ले रहा था…और उनकी तुलना में पापा एकदम बूढे लग रहे थे।

पापा ने घर पहुंचने तक भी सब्र नहीं किया। टैक्सी में बैठते ही बोले, 'कितना ज्यादा मेकअप किया है तुमने आज। जरा सलीके से साज-सिंगार किया करो। अब तुम कॉलेज में पढ़नेवाली लड़की तो नहीं हो।'

अंधेरे में मम्मी का चेहरा नहीं देख पायी मैं, पर बार-बार यही लगता रहा, पापा यह सब मेरे सामने न कहते तो अच्छा था।

उस प्रसंग को याद करके अपने ऊपर ही खीज उठी मैं। क्यों बार-बार ज़िद करती हूं मैं; जबकि मालूम है, पापा को यह सब जरा अच्छा नहीं लगता।

शाम से ही मेहमान जुड़ने लगे। प्रिंसिपल साहब थे, कुछ पापा के सहयोगी थे, कुछ मित्र, कुछ विद्यार्थी। चालीस-पचास लोगों का मजमा था। छत पर ही सब लोगों के बैठने की व्यवस्था की गयी थी, जिसे पापा के विद्यार्थियों ने दिनभर बैठकर सजाया था।

प्रिंसिपल साहब की अध्यक्षता में समारोह प्रारंभ हुआ। धुआंधार

भाषण हुए। मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। बस, इतना समझ में आ रहा था कि पापा की तारीफ हो रही है। और अंत में पुस्तक का विमोचन प्रिंसिपल साहब के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। पापा ने वह प्रति बड़े ही विनय के साथ उन्हें भेंट की। तालों की गड़गड़ाहट से आकाश गूंज उठा।

कुछ ही देर में पुस्तक की प्रतियां मेहमानों के हाथों में घूम रही थीं। तीस रुपये मूल्य की वह भारी-भरकम पुस्तक थी, कई दुर्लभ चित्रों के साथ। पन्ने उलटते हुए मेरी दृष्टि 'समर्पण' वाले पृष्ठ पर टिक गयी :

शीला को,
जिसका स्नेहमय सान्निध्य
मेरी प्रेरणा था,
जिसकी पवित्र स्मृति
मेरा सबल है।

इतना गुस्सा आया। इस 'हिप्पोक्रेसी' की भला क्या जरूरत थी। अपनी दिवंगत पत्नी के प्रेम का ढिंढोरा पीटना क्या इतना आवश्यक था? मां का स्नेहमय सान्निध्य! वाह! कम-से-कम पुस्तकों के संबंध में तो मां की भूमिका स्नेहमयी नहीं थी। पापा के पढ़ने वाले कमरे में वे बहुत ही कम जाती थीं। एक तो एकांत के लिए वह ऊपर बनवाया गया था और विद्यार्थियों की सुविधा के लिए जीना भी बाहर की ओर से ही था। दिनभर अपने पढ़ने-लिखने में ही व्यस्त रहने वाले पापा पर वे अकसर खीज भी उठती थीं—'घर चलाने का ठेका क्या मैंने अकेले ही ले रखा है?'

अपने विद्वान् पति पर नाज उन्हें जरूर था। पापा का भाषण सुनने जरूर जातीं और गंभीर मुद्रा बनाकर स्टेज पर बैठी रहतीं। मंत्रमुग्ध श्रोताओं को देखना उन्हें अच्छा लगता। इसी तरह पापा की पुस्तकों में लेखक की जगह छपा हुआ पति का नाम भर पढ़कर वे कृतार्थ हो जातीं थीं। उन्हें पढ़ने की कभी उन्होंने हिम्मत नहीं की। पापा को उनसे किस तरह की प्रेरणा मिलती थी, वे ही जानें। लेकिन अगर ऐसा था, तो पहले भी तो उनकी पुस्तकें निकली थीं। उनमें मां को याद क्यों नहीं किया

गया ? या शायद इसके लिए 'स्वर्गीय' की उपाधि जरूरी है।

और मां की पवित्र स्मृति ? इतना बड़ा मजाक कैसे कर सके पापा ! इतनी ही उस स्मृति में कशिश थी, तो चार-चार बच्चों के होते हुए भी दूसरा विवाह कैसे कर सके वे ? और वह भी अपने से सोलह वर्ष छोटी, अपनी विद्यार्थिनी के साथ !

विवाह कैसी भी परिस्थिति में हुआ हो, पर मम्मी ने अपना कर्तव्य पूरी तरह निभाया था। इस पुस्तक का असली श्रेय उन्हीं को जाता था। शादी से पहले और शादी के बाद भी इस पुस्तक पर उन्होंने अपार मेहनत की थी। लायब्रेरी से पुस्तकें जुटायी थीं, रात-रात जागकर नोट्स तैयार किये थे, टाइपिस्ट के साथ घंटों दिमाग खपाया था। कई-कई बार प्रूफ देखे थे। परंतु पूरी पुस्तक में उनका कहीं नाम भी नहीं था। कृतज्ञता के दो शब्दों की हकदार तो वे भी थीं।

प्लेटें लगाते हुए मैंने कहा, 'मम्मी ! आपके साथ बड़ा अन्याय हुआ है।'

'कैसा अन्याय ?'

'समर्पण तो आपके नाम होना चाहिए था।'

'इससे क्या फर्क पड़ता है। बड़ों का हक तो उन्हें देना ही चाहिए।'

'और काम सारा जो आपने किया है।'

'तो क्या हुआ ? काम तो मैंने विद्यार्थी की हैसियत से किया है। अब ये इतने लोग नहीं कर रहे हैं ? बस, मेरा भी अंशदान ऐसा ही है। और उन्होंने लिखा तो है—मेरे छात्रों ने बहुत सहायता दी है।'

मन हुआ, जबरदस्ती इस औरत के दिल में झांककर देखूं। क्या सचमुच ही कहीं जरा-सी भी खरोंच तक नहीं आयी है !

रणजीत से पहली भेंट इसी पार्टी में हुई थी। पापा ने ही परिचय करवाया था, 'बकुल, ये हैं रणजीत बहल। मेरे बहुत अच्छे विद्यार्थियों में से थे। अब आइ. ए. एस. हैं और यहां डिप्टी कलेक्टर बनकर आये हैं।'

'सर, आप कौन हैं ?'

'अरे, इसे नहीं पहचाना ! यह अपनी बकुल है। उस समय बहुत

छोटी रही होगी शायद।'

'अच्छा! वकुलजी, आप पढती हैं? कहां? किस इयर में? क्या विषय हैं?'

वे प्रश्न पूछते रहे, मैं उत्तर देती रही। पर उस भव्य व्यक्तित्व के सम्मुख बार-बार सिकुड़ी-सिमटी जा रही थी।

'अच्छा तो, वकुलजी, इजाजत है?' जाते हुए उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, तो मैं अभिभूत हो गयी। पहली बार किसी ने मुझे इतना सम्मान दिया था। घर-बाहर सभी के लिए मैं अब तक खिलंदड़ी वकुल ही थी।

'अच्छा नीरू, चलता हू। कभी घर पर आओ न!'

'तुम भी आना न मिसेज़ को लेकर। आज ही ले आते, तो परिचय हो जाता।'

'आज तो वह वोर हो जाती, इसलिए नही लाया। किसी दिन जरूर लेकर आऊंगा। अच्छा!' और हम सबको बडी अदा से नमस्कार करते हुए वे चले गये।

'आप जानती हैं इन्हें?' मैंने मम्मी से पूछा।

'हा, हमारे पड़ोसी थे। बाद मे बी. ए. भी हम लोगो ने साथ ही मे किया।' उन्होने बतलाया।

मुझे बड़ी खुशी हुई कि यह सज्जन मम्मी के परिचित हैं। तब तो कई बार मुलाकात हो सकेगी। पापा के यू तो ढेरों विद्यार्थी थे, पर अधिकतर बाहर ही से लौट जाते थे। घर का अनुशासन ही ऐसा था। कई अक्खड़ किस्म के लोग 'भाभी-भाभी' की रट लगाते हुए किचन तक पहुंच भी जाते थे, पर पापा को यह अच्छा नहीं लगता था। मम्मी को बाद मे बहुत कुछ सुनना पड़ता था। मा के ज़माने में जो बातें सहज-स्वाभाविक थी, अब एकदम वर्जित-सी हो गयी थीं।

रणजीत के साथ यह मुश्किल नही थी। वे कई बार आये—कभी अकेले, कभी मिसेज को लेकर। उनकी गुड़िया-सी खूबसूरत बीवी मुझे एकदम बेवकूफ-सी लगती। बेबी, किचन, पिक्चर्स और नौकर—ये चार उसके प्रिय विषय थे। शेष समय वह चुप बैठी रहती। बोलने-बतियाने का सारा जिम्मा मैं ले लेती। मम्मी तो अकसर चाय-वाय लगवाती

रहतीं।

पापा कॉलेज से लौटकर सहज भाव से पूछते, 'रणजीत आया था शायद आज।' मैं भी उसी सहज भाव से उत्तर दे देती। पर कुछ दिनों के बाद मुझे उन प्रश्नों में जासूसी की गंध आने लगी। शायद मेरे मन का चोर ही मुझे डरा देता था।

एक दिन तो हद हो गयी। पापा ने लौटते ही अजीब-से स्वर में पूछा, 'रणजीत फिर आया था आज!'

'नहीं तो।'

'फिर यह सिगरेट कैसी पड़ी हुई है यहां?'

'मुझे क्या पता।'

'मक्कार लड़की, झूठ बोलती है।' और पापा ने तड़ से एक तमाचा जड़ दिया मुझे।

पलभर को मैं तो काठ होकर रह गयी। आंसू तक सूख गये मेरे। मेरी याद में पहली बार पापा ने मुझ पर हाथ उठाया था और वह भी बिना किसी कारण के। और तभी किचन से मम्मी दौड़ी आयीं, 'क्या पूछना है, मुझसे पूछिए। उसे क्यों परेशान कर रहे हैं। बेचारी अभी-अभी कॉलेज से लौटी है।'

पापा चुप!

'रणजीत के बारे में पूछना है न! हां, वह आया था। यह जरा-सी बात जानने के लिए इतने घुमावदार रास्ते से जाने की जरूरत नहीं है। मुझसे पूछ लिया होता···और इतनी बड़ी लड़की पर हाथ उठाते हुए शर्म आनी चाहिए आपको। बड़े 'कल्चर्ड' बनते हैं!' और मम्मी जिस तरह आयी थीं, उसी तरह झमाझम भीतर चली गयीं।

पापा हतप्रभ-से खड़े रह गये। शायद मेरी तरह वे भी मम्मी के इस रूप को देखकर सहम गये थे।

रणजीत बेचारे को पता ही नहीं था कि उन्हें लेकर इस तरह का कोई कांड हो गया है। वे पहले की ही तरह आते रहे। अकसर दफ्तर से सीधे ही आ जाते, क्योंकि बाद में आने का मतलब होता, बीवी को भी साथ लाना। उस दिन के बाद मैंने उनके सामने पड़ने की हिम्मत नहीं

की। एक निरर्थक-सी ग्लानि मन में भर गयी थी। पर जब भी उनकी मोटर का हॉर्न सुनती, तो अपना कमरा छोड़कर ऐसी जगह आकर बैठ जाती, जहां से उनकी आवाज़ सुनाई देती रहे और एकाध झलक भी मिलती रहे। एक अजीब-सा पागलपन सवार था मुझ पर। दिनभर नीरज की कविताएं पढ़ा करती, तलत की गजलों में खोयी रहती। 'गुनाहों का देवता' तो पता नहीं, कितनी बार पढ़ गयी थी मैं। जब श्रीमती रणजीत भी साथ होती, तो मुझे पर्दे से बाहर आना ही पड़ता। वे अकसर गाने की फरमाइश कर बैठतीं, क्योंकि बातचीत में तो उन्हें रस नहीं आता था। तब मैं लता की भावप्रवण आवाज़ की नक़ल उतारते हुए ऐसे गीत चुन लेती, जो मेरी मनोदशा को व्यक्त कर सकें, जैसे 'तू प्यार करे या ठुकराये, हम तो हैं तेरे दीवानों में', या 'हम प्यार में जलनेवालों को चैन कहां, आराम कहां', या 'हाले दिल इस तरह सुनाया न गया' आदि।

मार्च का महीना था। परीक्षा की तैयारियों के लिए छुट्टियां हो चुकी थीं। पुस्तकों का अंबार सामने रखकर मैं बी. ए. फाइनल की तैयारी में व्यस्त थी। तभी उस परिचित हॉर्न को सुनकर मेरे कान खड़े हो गये। कैलेंडर पर नज़र दौड़ायी, तो पता चला, आज दूसरा शनिवार है। तभी श्रीमान दोपहर में पधारे हैं। छुट्टी है, तब तो जरूर मिसेज़ साथ में होंगी। पढ़ाई-वढ़ाई को गोली मारकर मैं डायनिंग रूम में अपनी परिचित कुर्सी पर बैठकर आहट लेने लगी। बड़ी देर तक मिसेज़ रणजीत की पतली तीखी आवाज़ की प्रतीक्षा करती रही, पर विश्वास हो गया कि वे अकेले ही आये हैं। मतलब मेरे बाहर जाने का कोई उपाय नहीं था। मन मारकर बैठी रही। रणजीत कह रहे थे, 'तुम जानती हो नीरू, मैं यहां क्यों आता हूं। अपनी रूटीन लाइफ से जब ऊब जाता हूं तब यहां आकर कुछ देर को फ्रेश हो लेता हूं। बस।'

'वो तो ठीक है, जीतू, लेकिन…'

'लेकिन क्या? क्या सर एतराज करते हैं?'

'सिर्फ उन्हीं के एतराज की बात होती, तो तुमसे कभी कहती भी नहीं

'फिर···?'

'जीतू ! मुझे वकुल का डर लगता है। मेरा मतलब···वकुल के लिए डर लगता है।'

(वकुल ! माय गॉड)

'वकुल ने क्या किया ? वह तो वड़ी प्यारी लड़की है।'

'वह लड़की तुम्हारे पीछे पागल हुई जा रही है और उसे रोकने का कोई उपाय मेरे पास नहीं है।'

'लेकिन वह तो जानती है, मैं शादीशुदा हूं।'

'इससे क्या फर्क पड़ता है। भावनाओं का ज्वार उठता है, तव ये छोटी-मोटी वातें तिनके की तरह पता नहीं कहां वह जाती हैं ! भावुक लड़कियों के साथ यही तो ट्रेजेडी होती है। वकुल जिस वातावरण में पल रही है, उसमें तो यह आवेग खतरे की सीमा तक पहुंच सकता है। यह तो गनीमत है, कि सामने तुम जैसी शख्सियत है, नहीं तो ड्राइवर, माली, रसोइया...प्रेम फिर पात्र-सुपात्र कुछ भी नहीं देखता।'

'छी: नीरू ! कैसी वातें कर रही हो आज।'

इससे अधिक सुनना मेरे भी वश में नहीं था। हांफते कदमों से आकर अपने विस्तर पर पड़ रही मैं, सामने दीवार पर मां का वड़ा-सा चित्र लगा था। आज मां होती, तव भी शायद इतनी वारीकी से मेरा मन नहीं पढ़ पाती। मां के विचारों की दुनिया भी उन्हीं की तरह सीधी-सरल थी।

'वकुल !'

'आयी, मां !' और एकदम याद आया मां अव कहां है। यह तो मम्मी की आवाज़ है। ड्राइंग-रूम के दरवाज़े में खड़े होकर पूछा, 'मुझे बुलाया, मम्मी ?'

'हां, महाराज शायद आया नहीं अभी तक। कॉफी वना सकोगी दो कप ?'

'जी !'

'वकुल !' मैं जाने लगी, तो रणजीत ने रोक लिया, 'वकुल, तुम इन्हें मम्मी क्यों कहती हो। मां कहा करो। ज्यादा नेचुरल लगता है। अभी तुमने पुकारा था न !'

'नहीं-नही, मम्मी ही ठीक है।' मम्मी की आवाज़ में अनावश्यक तल्खी थी।

किचन की ओर जाते हुए मैंने सुना, वे कह रहे थे, 'नीरू ! मैं सोचता हूं, बच्चे तुमसे मा कहेंगे, तो ज्यादा इंटीमेट हो सकेंगे, जस्ट ट्राई।'

'नो।'

'लेकिन क्यों ?'

'मैं इन बच्चों की मा बनकर इस घर मे नही आयी हू।'

'तो ?'

'इनके पिता के रंगमहल में एक बौद्धिक कक्ष खाली था, मेरी नियुक्ति वहीं हुई है।'

'नीरू, इसका मतलब है, तुम खुश नही हो !'

'मैं दुःखी भी नही हू। परेशान मत होओ।'

कॉलेज से लौटकर देखा, छोटे भैया बरामदे में विराजमान हैं।

'अरे, आप कब आये नागदा से ?'

'सुबह आठ बजे।'

'एकदम आ गये। कोई सूचना भी नही दी।' दरअसल खुशी के मारे मुझसे बोलते ही नहीं बन रहा था।

'सूचना देता, तो तुम लिवाने आती स्टेशन पर ?' उन्होंने चुटकी ली।

'अच्छा बताइए, कैसे आये हैं ?'

'बस, ऐसे ही। नही तो यहां कौन हमारी अम्मा बैठी हैं, जो तीज-त्योहार पर बुला भेजेंगी। इसीलिए जब मर्जी हुई, चला आया।'

'मैं तो बैठी हू अभी, फिर राखी पर क्यो नही आये ? मेरा एक साड़ी का नुकसान हो गया।'

'अब ले लेना, बस ! चल, ला दिखा तो, क्या-क्या पढ़ती है ?' और मेरे हाथ मे 'चिंतामणि' और 'घनानंद' लेकर देर तक उलट-पुलट करते रहे। फिर एकाएक बोले, 'अच्छा बकुल, यह तो बता मौसम का क्या हाल है ?'

'मौसम ?' मैंने सोचने की-सी मुद्रा बनायी, 'तापमान साधारण से कुछ

ज्यादा ही रहता है। अकसर धूलभरी आंधियां चलती रहती हैं। और कोई ताज्जुब नहीं, शाम को गरज के साथ छींटे भी पड़ें।'

'तब तो बड़ी मुश्किल है।' उन्होंने भी बड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर कहा और हम दोनों खिलखिलाकर हंस पड़े। हंसने का दौर समाप्त होने पर मैंने कहा, 'आपको मौसम की चिंता क्यों होने लगी। अब तो भगवान की दया से आपकी जेब भारी है।'

'पैसों की बात नहीं है, पगली!'

'फिर?'

'दरअसल मैं शादी करना चाहता हूं।'

'शादी!' मैं चीखी, 'अभी से?'

'अभी से का क्या मतलब? मैं तेईस का हो चुका हूं।' उन्होंने इस अंदाज में कहा, जैसे चालीस पार कर गये हों।

'पर बाबा, अभी आपकी लाइन क्लीयर कहां है? अभी तो बड़े भैया बैठे हैं?'

'बैठने को तो अभी दीदी भी बैठी हैं। इन लोगों के भरोसे रह गया, तो ज़िंदगी भर कुआंरा रह जाऊंगा।'

'च्-च्! ऐसी भी क्या बेसब्री है! भला बताइए, आप वहां नौकरी करने गये थे, या प्रेम करने?' मैंने कहा। लेकिन उसकी सिफारिश करना मंजूर कर लिया, क्योंकि वे वाकई सीरियस लग रहे थे। मेरे आश्वासन से निश्चिंत होकर वे मित्रों से मिलने चल दिये।

जिम्मेदारी ले तो ली बड़े मजे से, पर बाद मेंखुद ही डरने लगी कि यह विषय घर में उठाऊंगी कैसे। मौसम के बारे में मैंने मजाक नहीं किया था। वातावरण सचमुच घर का इसी तरह का हो गया था। कल शाम से तो मैं सहमी-सहमी-सी ही थी कि पता नहीं कब विस्फोट हो जाए।

मम्मी चार-पांच दिनों से एक टाइपिस्ट की प्रतीक्षा में थीं। यह लड़का उनके पिताजी के ड्राइवर का पुत्र था। वे मदद के रूप में उसे कुछ काम देना चाहती थीं। सारी बातें तय हो गयी थीं और वह भला आदमी गोल कर गया था। कल जब हम लोग पिक्चर देखकर लौट रहे थे, तो 'यशवंत' के फाटक पर ही वह मिल गया। मम्मी तो उसे देखते ही बरस पड़ीं। वह

बड़ी कठिनाई से समझा पाया कि वह तो आया था पर साहब ने ही उसे लौटा दिया था। सुनकर मम्मी का चेहरा तमतमा आया था। मारे रास्ते मुझे डर लगा रहा कि आज कुछ होकर रहेगा। ईश्वर की कृपा से कुछ हुआ तो नहीं, पर वातावरण में कुछ तनाव-सा जरूर था।

फिर भी साहस करके मैंने खाने की मेज पर वह बात छेड़ ही दी। छोटे भैया जान-बूझकर बाहर ही रह गये थे।

'सुनो, यह फोटो देखी तुमने।' बड़ी देर तक उस फोटो का निरीक्षण करने के बाद पापा ने उसे मम्मी की तरफ बढ़ा दिया था, 'अजय इस लड़की से शादी करना चाहता है। कैसी है?'

'आप लोगों को पसन्द आनी चाहिए, मेरा क्या है।' मम्मी ने बेरुखी से कहा।

'वाह भई, तुम्हारा भी तो हक है।'

'मेरा हक?' मम्मी ने कड़वे स्वर से कहा, 'अपनी पसंद का टाइपिस्ट तक तो मैं रख नहीं सकती। आपके बेटे के लिए बहू पसंद करना तो बहुत बड़ी बात है।'

'अब यह कहां की बात कहां ले जा रही हो तुम?'

'क्यों? मेरे अधिकार की बात नहीं हो रही थी क्या?' मम्मी ने सीधा प्रश्न किया।

पापा परेशान हो उठे। थके स्वर में बोले, 'मुसीबत तो यह है नीरू कि तुम ऐसे आदमी इकट्ठा कर लेती हो, जो मेरी रुचि से मेल नहीं खाते।'

'नहीं, मुसीबत तो यह है, बल्कि हकीकत है यह कि आप नहीं चाहते कि मेरी थीसिस कभी पूरी हो। पिछले चार-पांच सालों से मैं यही देख रही हूं।'

'क्या बकती हो!'

'ठीक तो कह रही हूं मैं। आप चाहते हैं कि बस मैं आपकी सेक्रेटरी बनी रहूं। आपके पत्रों का, पुस्तकों का, धोबी का, दूध वाले का हिसाब रखती फिरूं।'

'तुम कोई अहसान नहीं कर रही मुझ पर। दुनिया की आम औरतें घर में यही सब-कुछ करती हैं।'

ज्यादा ही रहता है। अकसर धूलभरी आंधियां चलती रहती हैं। और कोई ताज्जुब नहीं, शाम को गरज के साथ छींटे भी पड़ें।'

'तब तो बड़ी मुश्किल है।' उन्होंने भी बड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर कहा और हम दोनों खिलखिलाकर हंस पड़े। हंसने का दौर समाप्त होने पर मैंने कहा, 'आपको मौसम की चिंता क्यों होने लगी। अब तो भगवान की दया से आपकी जेब भारी है।'

'पैसों की बात नहीं है, पगली!'

'फिर?'

'दरअसल मैं शादी करना चाहता हूं।'

'शादी!' मैं चीखी, 'अभी से?'

'अभी से का क्या मतलब? मैं तेईस का हो चुका हूं।' उन्होंने इस अंदाज में कहा, जैसे चालीस पार कर गये हों।

'पर बाबा, अभी आपकी लाइन क्लीयर कहां है? अभी तो बड़े भैया बैठे हैं?'

'बैठने को तो अभी दीदी भी बैठी हैं। इन लोगों के भरोसे रह गया, तो ज़िंदगी भर कुआंरा रह जाऊंगा।'

'च्-च्! ऐसी भी क्या बेसब्री है! भला बताइए, आप वहां नौकरी करने गये थे, या प्रेम करने?' मैंने कहा। लेकिन उसकी सिफारिश करना मंजूर कर लिया, क्योंकि वे वाकई सीरियस लग रहे थे। मेरे आश्वासन से निश्चित होकर वे मित्रों से मिलने चल दिये।

जिम्मेदारी ले तो ली बड़े मजे से, पर बाद मेंखुद ही डरने लगी कि यह विषय घर में उठाऊंगी कैसे। मौसम के बारे में मैंने मजाक नहीं किया था। वातावरण सचमुच घर का इसी तरह का हो गया था। कल शाम से तो मैं सहमी-सहमी-सी ही थी कि पता नहीं कब विस्फोट हो जाए।

मम्मी चार-पांच दिनों से एक टाइपिस्ट की प्रतीक्षा में थीं। यह लड़का उनके पिताजी के ड्राइवर का पुत्र था। वे मदद के रूप में उसे कुछ काम देना चाहती थीं। सारी बातें तय हो गयी थीं और वह भला आदमी गोल कर गया था। कल जब हम लोग पिक्चर देखकर लौट रहे थे, तो 'यशवंत' के फाटक पर ही वह मिल गया। मम्मी तो उसे देखते ही बरस पड़ीं। वह

बडी कठिनाई से समझा पाया कि वह तो आया था पर साहब ने ही उसे लौटा दिया था। सुनकर मम्मी का चेहरा तमतमा आया था। मारे रास्ते मुझे डर लगा रहा कि आज कुछ होकर रहेगा। ईश्वर की कृपा से कुछ हुआ तो नही, पर वातावरण मे कुछ तनाव-सा जरूर था।

फिर भी साहस करके मैंने खाने की मेज पर वह बात छेड़ ही दी। छोटे भैया जान-बूझकर बाहर ही रह गये थे।

'सुनो, यह फोटो देखी तुमने।' बड़ी देर तक उस फोटो का निरीक्षण करने के बाद पापा ने उसे मम्मी की तरफ बढ़ा दिया था, 'अजय इस लड़की से शादी करना चाहता है। कैसी है ?'

'आप लोगो को पसन्द आनी चाहिए, मेरा क्या है।' मम्मी ने बेरुखी से कहा।

'वाह भई, तुम्हारा भी तो हक है।'

'मेरा हक ?' मम्मी ने कड़वे स्वर से कहा, 'अपनी पसद का टाइपिस्ट तक तो मैं रख नहीं सकती। आपके बेटे के लिए बहू पसंद करना तो बहुत बडी बात है।'

'अब यह कहा की बात कहा ले जा रही हो तुम ?'

'क्यो ? मेरे अधिकार की बात नही हो रही थी क्या ?' मम्मी ने सीधा प्रश्न किया।

पापा परेशान हो उठे। थके स्वर मे बोले, 'मुसीबत तो यह है नीरू कि तुम ऐसे आदमी इकट्ठा कर लेती हो, जो मेरी रुचि से मेल नही खाते।'

'नही, मुसीबत तो यह है, बल्कि हकीकत है यह कि आप नहीं चाहते कि मेरी थीसिस कभी पूरी हो। पिछले चार-पाच सालो से मैं यही देख रही हूं।'

'क्या बकती हो !'

'ठीक तो कह रही हूं मैं। आप चाहते हैं कि बस मैं आपकी सेक्रेटरी बनी रहूं। आपके पत्रो का, पुस्तको का, धोबी का, दूध वाले का हिसाब रखती फिरूं।'

'तुम कोई अहसान नही कर रही मुझ पर। दुनिया की आम औरतें घर मे यही सब-कुछ करती है।'

लेकिन मैं तोआम औरतों की तरह नहीं हूं। इसलिए तो लीक से हटकर चली हूं। नहीं तो आम औरतों वाला रास्ता मेरे लिए भी खुला था।'

'पछता रही हो अब ?'

अच्छा हुआ, मम्मी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया और वहीं पटाक्षेप हो गया। नहीं तो मेरी तो मुसीबत आ गयी थी। उन दोनों को तो मेरी उपस्थिति का होश नहीं था और मुझसे न उठते बन रहा था, न बैठना अच्छा लग रहा था।

शाम को छोटे भैया ने उत्सुकता से पूछा था, तो मैंने मुसकराकर छोटा-सा जवाब दे दिया था, 'थोड़ा तो धीरज रखो, बाबा। आज तो अर्जी पेश हुई है।'

छोटे भैया खिसियायी-सी मुसकराहट के साथ बोले, 'उसके मां-बाप बड़े घोंचू किस्म के हैं, इसीलिए। नहीं तो मैं तो सीधे कोर्ट से शादी करता और यहां तार से खबर भेज देता। बस। नो फॉरमेलिटी।' छोटे भैया ऐसा कर भी लेते, तो किसी को आश्चर्य नहीं होता।

पापा पता नहीं, कब जाकर मेरठ से बुआजी को लिवा लाये और घर में शादी-ब्याह की चर्चाएं जोर-शोर से चल पड़ीं। पापा की बातों से लगा कि इस बार वे दोनों लड़कों की शादी करके रहेंगे। छोटे भैया की तो कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन बड़े भैया के लिए तो बहू की तलाश अभी बाकी थी।

बुआजी माल फेरते हुए मुझसे कहतीं, 'अरी, तेरा बाप मेरे पास आया और बोला, अजय के लिए एकाध अच्छी-सी लड़की देखनी है। लो, सुन लो, लड़कियां क्या बाज़ार में मिलती हैं? अरे तुम चार लोगों में उठो-बैठोगे नहीं, बेटों की बात नहीं करोगे, तो कौन जानेगा कि तुम्हारे यहां ब्याहने को लड़के बैठे हैं।'

कभी रसोई में बैठकर महाराज से सुख-दुःख की चर्चा चलाते हुए कहतीं, 'भैया रे, वो तो पेट जाये की ममता ही कुछ और होती है। अब इन बच्चों की मां होती, तो बताओ क्या अब तक कुंवारे बैठे रहते ये।

वह लड़की क्या मेम बनकर विलायत चली जाती !'

कभी पापाजी शेव करते होते और वही बैठकर छालियां कतरती हुई बुआ जी कहती, 'विशन रे, मेरी माने तो इस छोकरी को भी लगे हाथ निबटा ही दे। आजकल की लडकियों का कोई ठिकाना है ! कब किसका हाथ पकड़कर चल दें और फिर तेरे यहा तो कोई देखने वाला भी नहीं है।' इन वाक्यों में व्यंग्य की दोहरी मार होती मम्मी पर। लेकिन वे किसी बात का उत्तर नही देतीं। चुपचाप अपना काम करती रहती। या कमरे मे बैठकर किताब पढती रहती। बुआजी के आ जाने से रसोई का क्षेत्र उनके लिए निषिद्ध हो चुका था। उन्हें इस बात का बुरा लगा भी हो, तो उन्होंने कभी जाहिर नही किया। बुआजी की गोलाबारी अक्सर चलती ही रहती। पर यह तो मानना होगा कि जिस कार्य-विशेष के लिए उन्हे लाया गया था, उसमे वे सिद्धहस्त थी। महीने भर के अंदर ही दूरदराज से वधु-पिताओं की चिट्ठिया, फोटो और कुंडलिया आने लगी। बुआजी के नाते-रिश्तेदारो का जाल भारतीय रेलवे की तरह पूरे देश मे फैला हुआ था शायद। उनकी प्रसारण-व्यवस्था भी बडी ही कार्यक्षम ज्ञात होती थी। तभी तो सब लोग जान गये थे कि उनके विद्वान् प्रोफेसर भाई का सुदर, सुदृढ, एक हज़ार रुपये महीना पानेवाला इजीनियर बेटा शादी के योग्य हो गया है।

मुझसे ही उन्होंने बड़े भैया को पत्र लिखवाया कि फौरन एक महीने की छुट्टी लेकर आ जाओ। ना-नुकर करने की गुजाइश नही है। तुम्हारी वजह से छोटे की शादी रुकी हुई है। और आश्चर्य की बात, बड़े भैया सचमुच छुट्टी लेकर आ गये। विजय-गर्व से उल्लसित होती हुई बुआजी बोली, 'देखो, आ गया न राह पर। अब कोई लडका तुमसे खुद आकर कहेगा कि मेरी शादी करो।' बुआजी के भाषणों का एल० पी० दिनभर चलता रहता। मुझे लगता कि किसी दिन मैं पागल हो जाऊंगी। एक दिन मम्मी से मैंने कहा, तो सूखी हंसी के साथ बोली, 'मेरे बारे मे कभी सोचा है !'

तब लगा, सचमुच अगर पागल होने की नौबत आयी है, तो मम्मी की। कितना सुनाया जाता है दिनभर उन्हें। कभी उनकी कोर्ट मैरेज का मखौल उड़ाया जाता है, कभी मा के रूप-रग, आचार-व्यवहार से उनकी

तुलना की जाती है। नौकरों-चाकरों का, हम बच्चों का कोई लिहाज नहीं बरता जाता। उनकी सूनी कोख पर भी एकाध उसांस भरा वाक्य कहा ही जाता, जैसे—'भगवान का दिया इसके भी एकाध हो जाता, तो गृहस्थी में मन भी लगता। अब तो क्या है, जैसे होटल वैसे घर।'

दस-बीस लड़कियों को देखने-सुनने के बाद एक रिश्ता सर्वानुमति से पास हो गया। लड़की वाले पूना से लड़की को लेकर आये थे। उन लोगों की भी इच्छा थी और बुआजी ने भी राय दी कि दिन अच्छा है, बड़का अगर राजी है, तो शगुन हो ही जाए तो अच्छा है।

उन्हें तो उन दिनों वीटो पॉवर थी। फौरन पापा-मम्मी बाज़ार दौड़े गये। एक बनारसी साड़ी, एक अंगूठी, मिठाई, नारियल, फल-फूल—सब-कुछ लाया गया। सब चीजों को देख-परखकर बुआजी ने एक थाली में सजा दिया। पास-पड़ोस के दो-चार लोगों को जल्दी में कहलवाया गया। सारी तैयारी होने के बाद बुआजी ने मम्मी से कहा, 'बहू, चार बजे के बाद फिर मुहूरत अच्छा नहीं है। लोग-बाग आयेंगे, जब आते रहेंगे। तू लड़की की गोद भर दे झटपट।'

आज्ञाकारी बहू की तरह मम्मी ने थाल की तरफ हाथ बढ़ाया ही था कि कैसे कुछ याद करके बुआजी बोलीं, 'बकुल! पड़ोस से मथुराइन को टेर न ले जरा।'

'क्यों?'

'पहले-पहल खोल भरी जा रही है। किसी लड़कौरी के हाथ से होती, तो ठीक था।'

जैसे बिजली का करंट छू जाए, मम्मी ने हाथ थाली से खींच लिया।

हमी सभी सन्नाटे में आ गये थे।

एकाएक बड़े भैया गरजे, 'बुआजी! आज आपने कह दिया, सो ठीक है। भविष्य में कभी इस तरह की बात करेंगी, तो इस घर में आपका निभाव नहीं हो सकेगा।'

हम सब सन्न रह गये। महाप्रतापी बुआजी का अपमान! और वह भी परम संत बड़े भैया के द्वारा।

बुआजी को संभलने का मौका दिये बिना ही वे बोले, 'इतना

शास्त्र-पुराण पढ़ती हैं आप ! इतना तो आपको मालूम होना चाहिए कि हम लोगों के होते हुए मम्मी को इतनी बड़ी गली आप नहीं दे सकतीं।' भैया ने 'मम्मी' कहा था। उन्हें पहली बार यह संबोधन करते हुए सुना था। काश ! मम्मी ने भी यह सब-कुछ सुना होता ! लेकिन वे तो पता नहीं, कब से कमरे के बाहर चली गयी थीं।

ड्राइंग रूम में लड़की वाले बैठे हुए थे और भीतर यह नाटक हो रहा था।

बड़े भैया ने निर्णय के स्वर में कहा, 'मैं मम्मी को लेने जा रहा हूं। अगर उन्हें मना सका, तो ठीक है। नहीं तो इन लोगों को लौटा दीजिए। मुझे शादी-वादी नहीं करनी है।' और दरवाज़े तक जाते हुए फिर ठिठक गये। इस बार अपनी रोषभरी आखें पापाजी की ओर उठाते हुए बोले, 'पूज्यनीय पापाजी ! मां की मृत्यु को तीन साल भी न हो पाये थे कि आप अपनी ही एक छात्रा से ब्याह रचा बैठे थे। लेकिन उस दिन भी आपसे इतनी नफरत नहीं हुई थी, जितनी आज हुई है। बुआजी ने इतनी बड़ी बात कह दी और आप चुप खड़े सुनते रहे, जबकि आप अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी कोई गलती नहीं है।'

'कोई गलती नहीं है,' लेकिन फिर भी यह संतानहीन जीवन बिताने पर विवश होना पड़ा है मम्मी को। क्या शादी से पहले उन्हें यह बात पता थी ? या प्रेम के ज्वार में उस समय यह सब-कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं लगा था ? चार बच्चों के बाद पापा का मन भर जाना तो स्वाभाविक था। पर क्या मम्मी के मन में कभी ममता का सैलाब नहीं उमड़ा होगा ? तब किस पर बरसाया होगा उन्होंने अपना प्यार-दुलार ! कभी तो तिरस्कार उपजा होगा उस पुरुष के प्रति, जिसने उन्हें नारीत्व के इस गौरव से वंचित रखा था। एकाध बच्चा सचमुच अगर होता, तो आज उनका जीवन यूं लक्ष्यहीन नाव की तरह लड़खड़ाता नहीं लगता। उनके एकाकीपन को बांटनेवाला कोई होता, तो शायद हम लोग भी स्वस्थ मन से घर लौट सकते थे।

-

सुबह उठकर यही सब मेरे मन में आ रहा था। दोनों भैया अपना सामान

वांध चुके थे। मम्मी के आदेश को सिर-माथे रखकर दोनों भाभियां ले जाने योग्य सामान छांट रही थीं। वुआजी भी दो-चार चीज़ें अपने परम प्रिय भाई की 'याद' में लिये जा रही थीं।

'वकुल, तुम नहीं देख रहीं अपने लिए कुछ ?' मम्मी ने कहा।

'अभी से क्या करूंगी। अभी तो पंद्रह दिन पड़े हैं जाने को।' मैंने कहा।

'लेकिन तव सिर्फ...तलछट ही हाथ आयेगी।' उन्होंने मुसकराकर कहा। वे चुपचाप वैठी दोनों वहुओं की 'कुशलता' देख रही थीं। कितनी चीज़ें पैक की जा चुकी थीं। पतिदेवता के डर से जो चीज़ें साथ नहीं जा रही थीं, उन पर रिजर्वेशन स्लिप लगाकर रखा जा रहा था, ताकि अगली ट्रिप में आसानी हो।

मैंने हंसकर कहा, 'मम्मी !' इस स्पीड से अगर हम सव लोग घर को खरोंचना शुरू कर देंगे, तो कुछ दिनों के वाद आपके पास यादगार के तौर पर सिर्फ दीवारें रह जायेंगी।'

'मेरी चिंता मत कर रे ! मेरे पास इतनी यादें हैं कि ऐसी-ऐसी दो-दो ज़िन्दगियां वसर हो सकती हैं।'

मैंने गौर से देखा, समझ ही मे नहीं आया कि यह कथ्य विगत स्नेह का सूचक है, या व्यथा का। और उत्तर में चुप ही रह जाना पड़ा। तभी पोस्टमैन ने आकर मुझे मुक्ति दिला दी। रजिस्टर्ड लेटर था मम्मी के नाम। पढ़कर ही वे कुछ ऐसी उदास हो गयीं कि मेरा तो मन घवरा उठा। पूछने का भी साहस न वन पड़ा।

वगीचे में वड़े भैया किसी ठेलेवाले से वात कर रहे थे। शायद शाम के लिए तय कर रहे थे। मैंने उन्हीं से जाकर वतलाया। वे मेरे साथ मम्मी के कमरे में आये। उसी तरह पत्र हाथ में लिये वे निस्पंद वैठी थीं।

'मम्मी ?'

उन्होंने चौंककर सिर उठाया।

'किसकी चिट्ठी है ?'

उन्होंने लिफाफा हाथ में थमा दिया। पापा के कॉलेज से आया था। मम्मी के लिए नियुक्ति-पत्र था। यह तो खुश होने की वात थी। उनके एकाकीपन की समस्या का हल इतनी जल्दी मिल जायेगा, ऐसा सोचा भी

न था। फिर मम्मी क्यों उदास हैं ? शायद पापा के ही कॉलेज में जाने की कल्पना उनके लिए असह्य हो उठी हो।

'मम्मी ! नौकरी आपके लिए ऐसी जरूरी भी नहीं है। आपका जी न चाहे, तो आप मना कर दीजिए। आप तो आराम से अपना थीसिस पूरा कीजिए, कब से रुका पड़ा है।' मैंने कहा।

'जी न चाहने की तो कोई बात ही नहीं है रे ! मेरी तो कब से यह अभिलाषा रही थी, अपने ही कॉलेज में पढ़ाने की।'

'फिर आप इतनी उदास क्यों हैं ?' मैंने बच्चों की तरह मचलकर कहा।

'यही सोच रही थी कि इतनी पुरानी इच्छा अब जाकर पूरी होनी थी। बुरा तो लगता ही है न !' उन्होंने इतने स्वाभाविक ढंग से कहा कि मुझे चुप हो जाना पड़ा।

'मम्मी !' बड़े भैया गंभीर स्वर में बोले, 'मेरे खयाल में आपका अभी यहां रहना ठीक नहीं है। कॉलेज जाने की बात तो और भी नहीं जंचती मुझे। आप छुट्टी भर मेरे साथ रहें। जुलाई में ज्वाइन कर लें। तब तक कुछ···'

'आऊंगी, अजय, तुम्हारे यहां भी आऊंगी, पर अभी नहीं। सहानुभूति से इन लोगों ने जो ऑफर दिया है, दुबारा शायद न दें।'

मम्मी का कहना ठीक ही था। बात पुरानी होने पर फिर उतनी वजनदार नहीं रहती। ऐसा अवसर दोबारा मिले न मिले। पापा की जिद के कारण उनकी यह इच्छा अब तक पूरी नहीं हो पायी थी। पापा नौकरी के सख्त खिलाफ थे।

'मम्मी ! आपकी कोई सहेलियां क्यों नहीं हैं ? आती-जाती रहतीं, तो मन बहला रहता।' मैंने कहा।

'जिस उम्र में सहेलियां बनायी जाती हैं, वह तो तेरे पापा के चरणों में गुजार दी। और बातों के लिए समय ही कहां रह गया था। शादी के बाद तो खैर···सवाल ही नहीं उठता था।'

'न हो, आप कोई क्लब ज्वाइन कर लें।' बड़े भैया बोले।

'क्लब ! पागल हुए हो।'

'मैं तो बड़ी चिंता में पड़ गया हूं। ऐसा कोई घर भी तो नज़र नहीं आता मुझे, जहां आप लोगों के घनिष्ठ संबंध रहे हों। उन लोगों के भरोसे कम-से-कम मैं निश्चित तो हो सकता!'

'इतने परेशान क्यों हो रहे हो अजय, मेरी समझ में नहीं आता। यह अकेलापन क्या आज का है। इसकी तो अब आदत-सी बन गयी है··· तुम्हारे पिता के साथ रहकर और सीखा ही क्या है। बचपन में तुम लोगों ने उस जादूगर की कहानी तो सुनी होगी, जो एक राजकुमारी को वश में कर लेता है। दिन भर तो बेचारी पत्थर की मूरत बनी रहती है और रात में···' और सहसा जैसे उन्हें याद आ गया कि वे क्या कह गयी हैं। दोनों हाथों से अपना चेहरा ढंक लिया उन्होंने।

मैं और बड़े भैया पत्थर की मूर्ति बने उन्हें देखते रह गये थे।

निष्कासन

'मैं तो बड़ी चिंता में पड़ गया हूं। ऐसा कोई घर भी तो नज़र नहीं आता मुझे, जहां आप लोगों के घनिष्ठ संबंध रहे हों। उन लोगों के भरोसे कम-से-कम मैं निश्चिंत तो हो सकता !'

'इतने परेशान क्यों हो रहे हो अजय, मेरी समझ में नहीं आता। यह अकेलापन क्या आज का है। इसकी तो अब आदत-सी बन गयी है··· तुम्हारे पिता के साथ रहकर और सीखा ही क्या है। बचपन में तुम लोगों ने उस जादूगर की कहानी तो सुनी होगी, जो एक राजकुमारी को वश में कर लेता है। दिन भर तो बेचारी पत्थर की मूरत बनी रहती है और रात में···' और सहसा जैसे उन्हें याद आ गया कि वे क्या कह गयी हैं। दोनों हाथों से अपना चेहरा ढंक लिया उन्होंने।

मैं और बड़े भैया पत्थर की मूर्ति बने उन्हें देखते रह गये थे।

निष्कासन

सारी रात शरीर पर जैसे छिपकलियां रेंगती रहीं। चार बजे के बाद तो बिस्तर पर लेटना मेरे लिए असंभव हो गया। शॉवर के नीचे बैठकर देर तक नहाती रही, तब जाकर जी हल्का हुआ।

बाथरूम से लौटकर देखा, डॉ. कोहली अब भी गहरी नींद में सोये हुए थे। नींद में उनका चेहरा बच्चों का-सा लग रहा था—तृप्त, शांत, निर्लिप्त। उनके हल्के खर्राटे दक्षिण महासागर के स्वर में घुल-मिल गये थे। दक्षिण महासागर, जो इस ब्राह्ममुहूर्त में ऊषा का आवाहन कर रहा था। मंद्र सप्तक में आरोह-अवरोह भरती हुई उन लहरों का गंभीर नाद मुझे बाहर आने का निमंत्रण दे रहा था। कमरे की चारदीवारी मुझे जहर-सी लग रही थी। मैंने अपने गीले बालों का एक ढीला-सा जूडा बनाया और बाहर निकल आयी। काउंटर पर बैठे क्लर्क ने मुझे 'गुडमॉर्निंग' किया। गेट पर ऊंघते-से दरबान ने मुझे सलाम भी किया। पर किसी की भी आंखों में मुझे आश्चर्य या कौतूहल नहीं दिखाई दिया। सागर के सम्मोहन से शायद वे लोग मुझसे ज्यादा परिचित थे।

अभी पौ नहीं फटी थी, पर गीली रेत में भीड धीरे-धीरे इकट्ठा हो रही थी। सबकी आंखें दक्षिण के प्रसिद्ध सूर्योदय को देखने के लिए ललक रही थीं। उस भीड़ में यद्यपि कहीं कोई परिचित चेहरा नहीं था, फिर भी उस क्षण वे सारे लोग बड़े अपने-से लग रहे थे।

भीड़ से छिटककर मैं एक कोने में बैठ गयी। जल की सिंदूरी आभा

को अपने में भरती हुई मेरी आंखें विवेकानंद शिला-स्मारक से जा टकरायीं, जो धीरे-धीरे आकार ले रहा था। जैसे-जैसे दिशाएं उजली होती जा रही थीं, उसका एक-एक अंग उद्‌भासित हो रहा था। पहले शिखर, फिर गर्भगृह, फिर सीढ़ियां। लग रहा था जैसे किसी शिल्पी ने तम का पहाड़ चीरकर एक मंदिर ऊपर से नीचे की ओर तराशना प्रारंभ किया हो। बहुत दिनों पहले, गरोठ के पास धर्मराजेश्वर का मंदिर देखा था। उसी की याद हो आयी।

खिलखिलाहट की ध्वनि सुनकर मैंने चौंककर सिर उठाया। कल वाली स्कूल-पार्टी पूरे तट पर फैल गयी थी। कल यही सब शिला-स्मारक पर भी मिली थी। सारा वक्त मेरी आंखें उन्हीं का पीछा करती रहीं। उनका चहकना, खिलखिलाना, गोल-गोल आंखें घुमाकर बातें करना, एक-दूसरे के कंधों पर झूलकर चलना, टीचर को देखकर जीभ काट लेना—सब कुछ कितना प्यारा लग रहा था। जब तक वे लोग बोट पर बैठकर रवाना न हो गयीं, मैं अपलक उन्हें देखती रही। होश में आने पर देखा, डॉ. कोहली एक गवाक्ष के सहारे चुपचाप खड़े समुद्र को निहार रहे हैं।

'मुझे अफसोस है···' मैंने उनके पास जाते हुए संकोच में डूबे हुए स्वर में कहा।

'नहीं, अफसोस की क्या बात···' उन्होंने भर्राये कंठ से कहा और आगे चल दिये। जैसे अब तक मेरी ही प्रतीक्षा में खड़े हों। मैं घिसटती-सी उनके पीछे चल दी। मन में एक अपराध-बोध व्याप गया—मेरी वजह से आज की सारी शाम बेसुरी हो गयी है। तरह-तरह से मैंने उस तनाव को तोड़ने का प्रयास किया। स्मारक के दर्शन के बाद जब हम लोग बोट से इस किनारे तक आये, तब तक वे काफी नॉर्मल हो चुके थे।

'सुनिए।' उन्हें सहज जानकर मैंने सफ़ाई देते हुए कहा, 'इन लड़कियों को देखकर मुझे गुड़िया की याद हो आयी थी। मैं जानती हूं कि यह ठीक नहीं, पर मैं क्या करूं···!'

'इसमें गलत तो कुछ नहीं।' उन्होंने जैसे मुझे आश्वस्त करते हुए कहा, 'लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती।'

मैं बुद्धू की तरह उन्हें देखती रही।

'तुम्हें हर बार स्कूली लड़कियों को देखकर ही गुड़िया की याद क्यो आती है ? इन पंद्रह दिनो मे मैंने यह बात कई बार मार्क की है। फ्रॉक या स्कर्ट-ब्लाउजवाली किसी लड़की को देखते ही तुम्हारी आखें पीड़ा से भर उठती हैं। क्या तुम्हारी कल्पना में वह अब भी छोटी-सी बच्ची ही है ? मैंने भी उसे देखा है। वह एक सुदर युवती है—मनोहर और मांसल। तुम पता नही क्यों उसे अब तक नन्ही-मुन्नी गुड़िया ही समझती रही हो। शायद मा की नजरों में बच्चा कभी बड़ा होता ही नहीं। ठीक है न।'

'शायद यही बात हो।' उनके लंबे-चौड़े वक्तव्य का मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया। अब उन्हें कैसे समझाती कि साड़ी मे लिपटी हुई सजी-धजी यह लड़की तो बिन्नी (उसकी बुआ) की विधु है। मेरी गुड़िया तो इन्ही लड़कियो जैसी है, हिरनी की तरह कुलाचें भरने वाली, चिड़िया की तरह चहकने वाली, झरने की तरह खिलखिलाने वाली—मेरे मन-प्राणो मे तो उसका वही रूप है।

कह भी देती, तो क्या वे समझ पाते। पुरुष हैं, फिर इतने वर्ष पश्चिम में बिताकर आये हैं। पश्चिम, जहा लोग सिर्फ वर्तमान को जीते हैं, उसे पूरी इच्छाशक्ति के साथ भोगते हैं। तभी तो इतना खुलकर हस पाते है। कौन कह सकेगा कि डॉ. कोहली अमरीका मे अपनी पत्नी और दो बेटे छोड़कर आये हैं। जो बीत गया, उसके लिए कोई कसक नही, मलाल नहीं। अतीत के लिए विसूरना तो हमारे हिस्से में आया है।

बड़ी मुश्किल से अपने को समेटकर मैं पूरे मन से एन्जॉय करने का निश्चय कर चुकी थी पर कन्याकुमारी की प्रतिमा के सामने जाकर फिर बिखर गयी। मन सुदूर अतीत मे दौड गया, जहा स्कूल के वार्षिकोत्सव मे 'मदन-भस्म' गीतिका मे अभिनय करने के लिए वह पार्वती के रूप मे सज-धजकर तैयार बैठी थी।

'मैं कैसी लग रही हूं, मम्मी ?' मुझे ग्रीन-रूम मे देखते ही उसने पूछा था। तब दोनों हाथों मे उसका माथा पकड़कर मैंने उसे चूम लिया था। उस समय उसकी आखें ऐसे ही हंस रही थी, ऐसे ही।

'वाह, क्या आखें हैं, क्या सौंदर्य है !' डॉ. कोहली अभिभूत होकर

कह रहे थे। उनकी नज़रें बचाकर मैंने अपनी आंखें पोंछ ली थीं।

पर उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से शायद यह सब कुछ नहीं छूट सका था। क्योंकि रात विस्तर पर आते ही उन्होंने अपने मृदु स्वर में पूछा था, 'माया! बता सकती हो, मनुष्य शादी क्यों करता है?'

'यह क्यों पूछ रहे हैं आप?' मैंने उत्तर में एक प्रश्न ही जड़ दिया।

'इसलिए कि मैं वतलाना चाहता हूं कि शादी का मकसद सिर्फ़ शारीरिक तुष्टि नहीं, उसका इंतज़ाम तो चांदी के कुछ टुकड़ों में कहीं भी हो सकता है। इंसान जब शादी करता है, तो जरूर ही इससे कुछ ज्यादा चाहता है।'

'तो क्या···तो क्या आपको वह नहीं मिल रहा?' मैंने कांपते स्वर में पूछा।

'नहीं!' उन्होंने दो-टूक जवाब दिया, 'उल्टे मुझे रोज़ ऐसा लगता रहा है, जैसे मैंने तुम्हारे साथ बलात्कार किया हो। कोई भी शरीफ आदमी इस भावना के साथ खुश नहीं रह सकता। क्या यह शादी तुम पर थोपी गयी है?'

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया, पर उनकी आंखों में अविश्वास बराबर झलकता रहा।

'दरअसल बात यह है कि···पिछला सब कुछ एकदम भूलना मेरे लिए मुश्किल है।' मैंने कहने का प्रयास किया। पर मेरी बात काटते हुए उन्होंने कहा, 'भूलने के लिए कौन कहता है? कम-से-कम हम हिस्सा तो बंटा ही सकते हैं।'

सच तो था। उन्होंने भी तो मुझे अपने प्रेम की, असफल विवाह की दास्तान सुनायी थी। यह भी बतलाया था कि वहां की आपाधापी से ऊबकर वे अब एकदम शांत जीवन बिताना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने महाराष्ट्र के एक सुदूर ग्राम में अपनी डिस्पेंसरी खोल रखी है।

नरेन्द्र की असमय मृत्यु के दाग को छोड़ दिया जाए, तो मेरे वैवाहिक जीवन की स्मृतियां माधुर्य से ओतप्रोत थीं, जिन्हें अपने एकाकी जीवन में भी मैंने अपनी कल्पना में ही कई-कई बार जिया है। इसीलिए मेरा मनोबल कभी टूट नहीं सका। लेकिन अब वे सारी बातें कितनी दूर की

लगती हैं। पिछले दो-तीन वर्षों से मन पर एक ही नाम रह गया है। एक ही कसक, एक ही पीड़ा रह गयी है और वह है गुड़िया, मेरी विधु, मेरी बिटिया। कभी कहने पर भी आऊं, तो क्या सिलसिलेवार वह सब कह पाऊंगी मैं!

वड़े फूहड़ ढंग से रात उन्हें अपने सर्वात्म समर्पण का विश्वास दिलाती रही। उन्हें शायद संतोष हो भी गया हो, पर मुझे अपने से ही संतोष नहीं था। सच तो यह था कि सैकड़ों योजन की मानसिक दूरी के साथ जब दो शरीर मिलते हैं, तो उस मिलन में कोई मांगल्य, कोई सौंदर्य, कोई अर्थ नहीं रह जाता।

सोचती हूं, जिस तरह उसने मुझे उपेक्षित करके अपने लिए एक नया संसार खड़ा कर लिया है, मैं क्यों नहीं कर सकती? लेकिन दोनों की स्थितियों में अंतर भी तो है। मैं मां हूं, वह बेटी है। उसे तो नदी के जल की तरह हमेशा आगे ही दौड़ना है। मुझे तो किनारों की तरह सिर्फ़ अपनी बांहें फैलाये रखना है।

सभी की लड़कियां एक दिन परायी हो जाती हैं। इसीलिए तो विधु के जन्म पर मैं फूट-फूटकर रोयी थी। दो बच्चों को मृत अवस्था में जन्म देने के बाद यह सीजेरियन का अंतिम चांस था। तब अम्मा ने समझाया था, 'पगली, रोती क्यों है? जैसी ममता बिटिया करती है, ऐसी लड़के थोड़े ही करेंगे। लड़की कहीं भी रहेगी, तो तेरे लिए आठ-आठ आंसू रोयेगी। लड़के तो घर में रहेंगे, तब भी आंख उठाकर न देखेंगे।'

शायद अम्मा अपने अनुभव के बोल सुना रही थीं। इसका प्रमाण मुझे मिला जब नरेन्द्र अचानक हमारे बीच से उठ गये थे। बीमारी में बड़े धैर्य से उनकी सुश्रूषा करनेवाली मैं एकदम टूट गयी थी। तब इस नौ वर्ष की छोकरी ने मुझे मां की तरह सहारा दिया था। पिता की मृत्यु का दुःख किसी दार्शनिक की तरह पीकर वह मेरी देखभाल करती रही। शोक-प्रदर्शन करने के लिए आनेवाली भीड़ से, रास्ते पर लोगों की करुण दृष्टि से, नाते-रिश्तेदारों के व्यंग्य-बाणों से—बड़े कौशल से मुझे इन सबसे बचाती हुई वह उबार लायी थी। उसकी मजबूत बांहों का सहारा पाकर

मैंने पतवार फिर थाम ली थी और ज़िन्दगी बड़े आराम से पार हो रही थी।

फिर तेईस मार्च का वह अशुभ दिन आया। हां, ठीक तेईस मार्च ही थी वह। इतने दिनों बाद भी वह तारीख ऐसे याद है, जैसे कल ही की बात हो। गुड़िया की परीक्षा चल रही थी—हायर सेकंडरी बोर्ड की।

रोज़ की तरह दफ्तर से लौटते हुए मैंने पेस्ट्री, संतरे, मक्खन की टिकिया खरीदीं। एक 'माधुरी' का अंक और एक-दो पॉकेट बुक्स भी बैग में छिपाकर रख लीं। कल आखिरी पेपर थे। परीक्षा खत्म होते ही उसे कुछ-न-कुछ पढ़ने को चाहिए।

घर एकदम सुनसान था। आठों पहर चीखने वाला रेडियो भी चुप था और उसकी हर धुन पर थिरकनेवाली गुड़िया का कहीं पता नहीं था। सारी चीज़ें रसोई की अलमारी में रखकर मैंने चाय का पानी चढ़ाया और उसे आवाज़ दी।

पर कोई उत्तर नहीं आया। चाय छानने के बाद मैं खुद ही दोनों कप लेकर चारों कमरों में घूम आयी। मेम साहब सुस्त होकर आरामकुर्सी पर पड़ी हुई थीं। बड़ी ममता हो आयी। दिनभर पढ़ती रही होगी बेचारी।

'मेम सा'ब, चाय हाज़िर है।' मैंने एक स्टूल खींचते हुए कहा। उसने आंखें खोलकर देखा, चुपचाप एक कप लेकर सुड़कना शुरू कर दिया। मम्मी को देख रोज़ की तरह मुसकरायी भी नहीं—न नाश्ते की फरमाइश, न देर से आने की शिकायत। मुझे बड़ा अजीब-सा लगा।

'पेपर कैसा हुआ, बेटे?' मैंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

'अच्छा ही हुआ।' उसने मरी हुई आवाज़ में कहा। लेकिन मैं समझ गयी कि अच्छा नहीं हुआ है, नहीं तो वह इतनी उदास क्यों होती। थोड़ा दुःख भी हुआ, पर मैंने ज़ाहिर नहीं होने दिया।

'लता के घर तक घूम आना हो, तो हो आ। मैं अभी खाना तैयार करती हूं।'

लेकिन उसने कोई उत्साह नहीं दिखाया। मैंने जल्दी-जल्दी सब्जी छौंकी, परांठे सेंके, थोड़ी-सी बूंदी उतारकर उनका रायता बनाया और

उसे आवाज दी।

मेज पर खाना लगाते हुए देखा, सुबह की प्लेटें पड़ी भिनभिना रही हैं। डाटने की इच्छा हुई, पर सोचा कि जाने दो। परीक्षा के दिन है। भूल गयी होगी। खुद मेज साफ करके खाना लगाया।

'खाने के लिए साथ में सुबह कौन था—लता या आरती?' खाना खाते हुए मैंने पूछा।

कुछ क्षण वह थाली में उंगलिया चलाती रही। फिर बोली, 'गंगाधर चाचा थे।'

'अच्छा! किसी काम से आया था?'

'नही! रास्ते में मिल गये थे। मोटर साइकिल पर घर तक छोड़ गये।'

'खाना तो तुम्हारे ही *लायक था, कम तो नही पड़ा? अलमारी में* ब्रेड भी रखी थी, निकाल लेती न। अच्छा, छाया नहीं आयी अभी? तीन महीने हो गये। मा के यहा ही जाकर बैठी हुई है। गंगाधर का क्या हुआ? फिर से बहाल होने के ऑर्डर्स आनेवाले थे इस महीने? उसके केस का फ़ैसला हुआ या नही?'

प्रश्नो की झड़ी के बीच खयाल आया कि गुड़िया चुपचाप बैठी है। *मेरी एक बात का भी जवाब उसने नही दिया। ठीक भी था।* इतनी-सी लड़की इन बातो को क्या समझती।

खाना खाते ही वह बिस्तर पर जा लेटी, मैंने पढ़ने के लिए इसरार नही किया। सोचा, ठीक से सो लेगी, तो तरोताजा हो जायेगी। वैसे एक रात से फर्क भी क्या पडता था।

'*बेटे, अपना गणित का पेपर चाचाजी को दिखा दिया था? एक* प्रश्न पर सदेह हो रहा था न तुम्हे!' मैंने बत्ती बुझाते हुए पूछा। उसने जवाब नही दिया। शायद आज के पेपर से उसका मूड ऑफ हो गया था।

'कोई बात नहीं। फिर कभी आयेंगे, तो दिखा देना।' मैंने तसल्ली देते हुए कहा।

'फिर कभी आयेंगे, तो धक्के मारकर निकाल दूगी घर से!'

क्या यह गुड़िया की ही आवाज थी! मैंने दुबारा बत्ती जलायी। व अपने बिस्तर में बैठी गुस्से से तमतमा रही थी।

'ऐसा नहीं कहते, बेटे !'

'उस आदमी को तुमने घर में भी घुसने दिया, तो मुंह नहीं देखूंगी।' उसने दांत पीसते हुए कहा।

'लेकिन ऐसा हुआ क्या है ?'

'क्या हुआ है, देखोगी ?' कहते हुए उसने तड़ातड़ अपने ब्लाउज के बटन खोल डाले। उफ़ ! कोई इतना वहशी हो सकता है, मैंने सहमकर अपनी आंखें बंद कर लीं। उजले बल्ब की रोशनी में उसका अनावृत शरीर दीपशिखा-सा दमक रहा था और गंगाधर की हैवानियत के चिह्न उसे धुएं की लकीर की तरह घेरे हुए थे।

मैंने दुबारा आंखें खोलीं, तब तक वह व्यवस्थित होकर बिस्तर पर जा सोयी थी। पर उतनी-सी देर में जान लिया कि गुड़िया अब बच्ची नहीं रही, बड़ी हो गयी है। मां की बात याद आयी। पिछली बार वे आयी थीं, तो बार-बार कहती रही थीं—'लड़की तो बाप की तरह लंबोतरी हुई जा रही है। इसे साड़ी या सलवार पहनाया कर। ये उघड़ी-उघड़ी टांगें अच्छी नहीं लगतीं।'

मुझे इतना गुस्सा आता। खीजकर कहती—'तुम भी गजब करती हो, अम्मा। हम लोगों को तेरह साल की उम्र से साड़ी में बांध दिया था। इस बेचारी को यह सजा क्यों देती हो ! पता है आज तो कॉलेज में भी कोई साड़ी पहनकर नहीं जाता।'

अम्मा तुनककर कहतीं, 'आजकल के क्या कहने ! इनका बस चले, तो फिराक पहने ही भांवरें पड़वा लें।'

घर में गंगाधर, डॉक्टर साहब या अन्य कोई परिचित आते, तो वे भुनभुनाती रहतीं, 'लड़की को समझाया कर, जरा इनसे दूर ही रहा करे। ये चौबीस घंटे चोटी खींचना, गाल मसलना, पीठ पर धौल जमाना मुझे अच्छा नहीं लगता।'

'गजब करती हो, अम्मा, तुम। ये सब उसके चाचा लोग हैं। पता है, इसे कितना लाड़ करते हैं ?'

'तो लाड़ क्या दूर से नहीं हो सकता ?'

अम्मा की इस बात को मैंने हमेशा हंसी में उड़ाया। ऐसी ऊटपटांग

बातों से लड़की का दिमाग खराब करने की इच्छा कभी नहीं हुई।

क्या यह मैंने ठीक किया था ?

उसे अपनी गोद में भरते हुए मैंने कांपती आवाज में कहा, 'डॉक्टर आंटी को आवाज क्यों नहीं दे ली, बेटे ?'

'ओह मम्मी, मुझे क्या मालूम था ? वह विलेनों का-सा व्यवहार करने लगे। बैठे ही बैठे एकदम बदतमीजी पर उतर आये।'

फिर मुझसे अलग होते हुए बोली, 'मैंने भी वह सबक सिखाया है कि जिन्दगी भर याद रखेंगे। मैं कोई मिट्टी का लोंदा नहीं हूं कि जो चाहे मुझे रौंदकर चला जाए।'

उसका वह आवेश, वह रोष, वह रूप मेरे लिए एकदम नया था। अनुभव के क्षण उसे एकदम बड़ा कर गये थे। और अनुभव भी कितना भयानक! बेचारी अब कभी जान नहीं पायेगी कि पुरुष का पहला स्पर्श कितना मंगल, कितना पवित्र, कितना रोमांचक होता है। इस दुर्दिन की स्मृति हमेशा एक काली छाया की तरह उसके अनुभवों के आसपास मंडराती रहेगी।

हाय गंगाधर! तुमने यह क्या किया ? इसके लिए मैं जिन्दगी भर तुम्हें माफ नहीं कर पाऊंगी।

कल तक गंगाधर मेरे स्नेह का, सहानुभूति का पात्र था। बेचारा आठ-दस महीने से मुअत्तिल होकर घर पर बैठा हुआ था। शासन से तिरस्कृत होते ही सबंधियों की उपेक्षा का दु ख भी उसे सहना पड़ रहा था। आर्थिक सकट भी मुह बाये खड़ा था। इन सबसे घबराकर छाया भी बच्चों को लेकर मां के पास चली गयी थी। सारी मुसीबतों के बीच वह एकदम अकेला पड़ गया था। पत्नी के तानों से छलनी बने कलेजे को लेकर विभागीय जाच से जूझ रहा था।

महीनों से किसी स्नेहिल स्पर्श का प्यासा उसका मन फगुनायी एकांत दोपहरी में विधु का आकर्षण नहीं झेल पाया होगा ! अगर विधु की जगह और कोई होता, तो मेरी सारी सहानुभूति गंगाधर के साथ होती। पर उस समय तो मेरा कण-कण उसे कोस रहा था। लग रहा था कब सुबह हो और…

लेकिन सुबह होने पर ही मैं क्या कर लेती ? क्या उसके दरवाज़े जा-कर इस विश्वासघात के लिए जवाबतलब करती ? सर्वनाश जो होते-होते रह गया था, मेरी बातों से शायद पूरा ही हो जाता ।

तब बहुत याद आये नरेन्द्र । पुरुष के छत्र के बिना कितना पंगु हो जाता है नारी का जीवन ! रात के अंधेरे में हम मां-बेटी देर तक एक-दूसरे से लिपटी उनकी याद में आंसू बहाती रहीं ।

सुबह जब उठी थी, तो एक निश्चय के साथ ही । सारी बात एकदम भूल जाना ही श्रेयस्कर था, जिसमें आज गुड़िया का आखिरी पेपर था । मैंने रोज़ की तरह चाय बनायी, नाश्ता बनाया, उसके लिए पानी गरम किया और रोज़ की तरह सहज भाव से ही उसे जगाया । रोज़ बिस्तर से उठते ही उसकी जबान शुरू हो जाती थी । उस दिन उसका चार्ज मैंने ले लिया था । मैं एक क्षण का भी अंतराल नहीं छोड़ना चाह रही थी, जिससे वह कल के बारे में सोचने लगे ।

उसे नहाने भेजकर मैं कलम में स्याही भरने चली थी कि घंटी बजी । 'इतनी सुबह कौन होगा'— सोचते हुए मैंने दरवाज़ा खोला । नाइट गाउन पहने पड़ोसी डॉक्टर मित्रा खड़े थे ।

'आपका फोन है, भाभी !'

'मेरा ?' मैंने आश्चर्य से भरकर पूछा और उनके पीछे चल पड़ी । 'भाभी, मैं दवे बोल रहा हूं, तिलकनगर से ।' रिसीवर उठाते ही आवाज़ आयी ।

'कहिए !' मैंने उत्तर दिया । और उसके बाद जो कुछ सुना, वह इतना भयानक था कि मेरे हाथ से रिसीवर ही छूट पड़ा ।

'क्या बात है, भाभी ?' डॉक्टर दंपति ने घबराकर पूछा ।

'गंगाधर ने सीलिंग फैन से लटककर आत्महत्या कर ली है ।' मैंने सपाट स्वर में कहा ।

'क्या ?' वे दोनों भी स्तब्ध रह गये थे ।

'कल ही तो गुड़िया को छोड़ने यहां तक आये थे ।' मिसेज़ मित्रा ने कहा । मैंने घबराकर उनकी ओर देखा; ईश्वर न करे, आगे का हाल भी वे जानती हों !

'सरपेंड हो गये थे न ! मैंने सुना कि बीवी भी लड़-झगड़कर चली गयी थी।' डॉक्टर साहब बोले।

'यही तो गलत होता है। ऐसे समय पति को अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। पता नहीं कब कैसा मन हो जाए?'

मैंने मिसेज़ मिश्रा को बात पूरी नहीं करने दी। हड़बड़ाकर उठते हुए बोली, 'सुनिए, मुझे शायद दिन भर वहां लग जायेगा। आप गुड़िया को यहीं रख लीजिएगा। और···और उसमें अभी कुछ नहीं बतलाइएगा।'

'आप बेफिक्र रहिए।' उन लोगों ने आश्वासन दिया।

'कहां चली गयी थी, मम्मी ?' विधु ने पूछा।

'पड़ोस में कहने गयी थी। आज तुम खाना वहीं खाओगी। मुझे जरा जल्दी दफ्तर जाना है। बना नहीं पाऊंगी।'

मुझे लगा, वह सौ प्रश्न पूछ डालेगी, पर वैसा कुछ नहीं हुआ। चुपचाप नाश्ता करके सीढ़ियां उतर गयी। रोज की तरह न भगवान को हाथ जोड़े, न मेरे पांव छुए, न सड़क से टा-टा किया।

उसका वह बदला हुआ रूप देखकर मन भर आया। दुःख करने के लिए भी समय कहां था। वहां गंगाधर के बंगले पर मेरी प्रतीक्षा हो रही थी। कहने को रिश्ता हम लोगों में कुछ भी नहीं था। बरेली में उन लोगों का मकान हमारे घर के मकान से लगा हुआ था, बस। परदेश में आकर यही रिश्ता पक्का हो गया था। नरेन्द्र को वे हमेशा बड़े भाई की तरह *मानते रहे थे और उनके बाद भी परिवार को गंगाधर का स्नेह-सहयोग* मिलता रहा था। इसीलिए सबसे पहले मुझे ही याद किया गया था।

यह कल्पना कितनी अजीब लग रही थी कि जिस समय मैं अपने संपूर्ण अंतर्मन से उसे शाप पर शाप दिये जा रही थी, उसका मृत शरीर छत के पंखे से झूल रहा था। मुअत्तिल होने का अपमान उसने दिलेरी से सहन कर लिया था, *रिश्तेदारों की उपेक्षा की उसने परवाह नहीं की थी,* पत्नी की अवहेलना भी वह पी गया था, पर आत्मग्लानि की यंत्रणा उससे झेली नहीं गयी थी। मृत्यु का निश्चित समय दवे बता नहीं पाया था। दूध वाले ने दरवाजा खटखटाने के बाद बेडरूम की खिड़की से झांका था, तभी इस दुर्घटना का पता लग सका था।

लेकिन मुझे निश्चय था कि गंगाधर यहां से लौटकर ही मृत्यु से लिपट गया होगा। जैसा उसे अब तक जाना था, उससे यही लगता था। मेरे मन का सारा आक्रोश करुणा में बदलकर रह गया था।

मेरे वहां पहुंचने तक लाश पोस्टमार्टम के लिए जा चुकी थी। मेज़ पर उसकी लिखी चिट्ठी भी पुलिस ले गयी थी। दवे ने बतलाया कि उसमें बस इतना लिखा था, 'जीवन से ऊब गया हूं। सब लोग कहा-सुना माफ करें।'

मन का रहा-सहा रोष भी चिट्ठी की बात सुनकर निकल गया और मेरी आंखों से आंसू बह निकले।

दिनभर कैसे बीता, शब्दों में कहना कठिन है। एक तो मौत का घर, फिर ऐसी भयानक मौत। ढेर सारे लोग इकट्ठा हो गये थे। वे लोग भी थे, जो उससे इन दिनों कतराये थे। वे अफसर भी थे, जो उससे गांव का घी मंगवाते थे, अपनी बेटियों की शादियों में सरकारी पेट्रोल फुंकवाते थे, हर छह महीने बाद अपना नज़राना वसूलते थे। उसके मुअत्तिल होने पर इन सब लोगों ने आंखें फेर ली थीं। और अब अर्थी को कंधा देने के लिए तत्परता से हाज़िर हो गये थे।

वे रिश्तेदार भी थे, जो उसकी सरकारी जीप में बैठकर यहां-वहां जाने में बड़ा गर्व अनुभव करते थे। उसी जीप के छिन जाने के बाद, जो उसकी नमस्ते का जवाब भी ऐसे देते थे, जैसे अहसान कर रहे हों।

वे दोस्त भी थे, जो हर तीसरे दिन उसके यहां डिनर पर आते रहते थे। पर पिछले छह महीनों से किसी ने उसे चाय पर भी नहीं बुलाया था।

उन लोगों की आहें और आंसू देख-देखकर चिढ़-सी हो रही थी। पर छाया की प्रतीक्षा में मेरा वहां बैठना आवश्यक था। तीसरे पहर छाया और गंगाधर की लाश साथ ही पहुंचे। सब-कुछ निबटाते रात के नौ बज गये। छाया की भाभियां तो मुझे रोकना चाह रही थीं, पर विधु का बहाना कर मैं वहां से निकल आयी।

घर पर पहुंचकर भी ऐसा लगता रहा, जैसे वे सारे दृश्य, सारी आवाज़ें मेरा पीछा करती रही हैं। नहाकर निकली, तो देखा, मिसेज़ मित्रा खड़ी हैं।

'भाभी, खाना खाने चलिए। हम लोग रुके हुए हैं।' खाने की ज़रा

इच्छा न थी, पर उनके सौजन्य को ठुकराते नहीं बना। सारी बातें दोहराने की जरा इच्छा न थी। पर उन लोगों की उत्सुक आंखों का लिहाज करना पड़ा। जैसे भी बन पड़ा, उन्हें सब बताती रही। बार-बार डर लगा रहा कि गुड़िया तक ये सारी बातें न पहुंचें। एक-दो बार दबी जबान से इशारा भी किया, तो मिसेज मित्रा बोलीं, 'वह सब सुन चुकी है। उसके क्लास की एक लड़की तिलकनगर ही में रहती है। उसने सुबह ही यह खबर उसे दे दी है। ऐसी बातें छिपती थोड़े ही हैं।'

शायद उनका कहना ठीक ही था। पर मैं अपनी तरफ से कोशिश करती रही थी कि यह समाचार उस तक सौम्य रूप में पहुंचे। गंगाधर की वह वीभत्स मृत्यु मुझे भी हिला गयी थी। वह तो खैर, बच्ची ही थी।

'मम्मी!' घर में आते ही उसने करुण स्वर में पुकारा।

मुझे मालूम था, वह क्या पूछना चाहती है। बड़े ही संयत स्वर में मैंने कहा, 'देखो बेटे! अभी मुझसे कुछ मत पूछो। दिन भर से यही सब कह-सुनकर मैं पागल हुई जा रही हूं। थोड़ा सो लेने दो मुझे।'

कहने को बिस्तर पर आ लेटी मैं, पर आंखों में नींद नाम को नहीं थी। शायद विधु भी जाग रही थी, पर मैं जान-बूझकर मूर्तिवत् लेटी रही। एकाएक मार्च की वह रात गरम हो उठी और मैं पसीने से नहा गयी। धीरे-से उठकर मैंने पंखा चला दिया।

'बंद करो वह पंखा, मम्मी प्लीज!' वह इतने आर्त स्वर में चीखी कि मैं भीतर तक सिहर उठी। पंखा बंद कर मैंने खिड़कियां पूरी-पूरी खोल दीं। पर्दे ऊपर डाल दिये गये और अखबार के कागज से हवा करती हुई उसे थपकने लगी।

'मम्मी!' कुछ देर बाद उसका स्वर आया, 'चाचा ने क्यों किया होगा ऐसा?'

'तुझे मालूम तो है, वह मुअत्तिल हो गये थे।'

'मुअत्तिल क्या आज हुए थे?'

'तेरी चाची लड़-झगड़कर चली गयी थीं न! इसी से उदास हो गये थे।'

'चाची को गये तीन महीने हो गये हैं।'

'शायद कर्जदारों ने परेशान किया हो। अब सो जाओ, बेटा। बहुत रात हो गयी है।' मैंने पीछा छुड़ाते हुए कहा।

वह मेरे हाथों से छिटककर उठ बैठी, 'क्यों अपने को झुठला रही हो, मम्मी ? मुझे मालूम है, चाचा ने मेरी वजह से आत्महत्या की है। मैंने उन्हें बहुत बुरा-भला कहा था, उन्हें पापा की खड़ाऊं से पीटा था, इतनी-इतनी गालियां दी थीं मैंने…मुझे बहुत गुस्सा आया था, पर मैंने यह कभी नहीं चाहा था कि वे इस तरह…' और वह फफककर रो उठी। अपनी वजह से एक हंसता-खेलता आदमी दुनिया से उठ गया है, यह कल्पना उसका नन्हा-सा दिल मथ गयी थी। उसकी रुलाई का ज्वार इतना प्रबल था कि मेरे सांत्वना के शब्द बह-बह जाते थे।

मुझे खुद पता नहीं था कि वह कब सोयी, क्योंकि शारीरिक और मानसिक रूप से क्लांत होकर मैं तो नींद को ज्यादा देर रोक नहीं पायी थी।

सुबह नींद खुली भी, तो उसकी चीख सुनकर ही। अलसायी आंखों से मैंने उसके बिस्तर की ओर देखा। वह सूना पड़ा था। खुली खिड़कियों से होकर धूप सारे कमरे में बिछ गयी थी। मैं हड़बड़ाकर उठी। देखा, बरामदे में विधु बेहोश पड़ी है। पास ही सुबह का अखबार पड़ा है। फ्रंट पेज पर बड़े-बड़े अक्षर चमक रहे थे—युवक इंजीनियर की दर्दनाक मृत्यु !

डॉक्टर दंपति भी मेरे साथ ही दौड़कर बरामदे में पहुंचे थे। हम लोगों ने मिलकर उसे उठाया। बिस्तर पर लाकर लिटाया। डॉक्टर साहब ने स्मेलिंग साल्ट वगैरह लाकर उसे सुंघाया। कुछ ही देर में उसने आंखें खोलीं। मेरे जी का बोझ कुछ हल्का हुआ। 'मैंने उन्हें मार डाला ! मैंने उन्हें मार डाला !' अस्पष्ट स्वर में वह बुदबुदा रही थी।

'कुछ कह रही है शायद।' मिसेज़ मित्रा ने समझने की चेष्टा करते हुए कहा।

'उसे शॉक-सा लग गया है न। कल रात पंखे को देखकर भी ऐसे ही डर गयी थी।' मैंने जल्दी से कहा, 'अब तो मेरे खयाल से ठीक है। आइए न, बाहर बैठें। मैं चाय बनाकर लाती हूं।'

'जी नहीं, अब तो चलेंगे। हॉस्पिटल के लिए तैयार भी होना है। वैसे

घबराने की कोई जरूरत नहीं है।'

अस्पताल जाने से पहले वे फिर एक बार आकर देख गये। वह ठीक हो चली थी, पर ऐसी निस्तेज दिखाई दे रही थी, मानों महीनों से बीमार हो। नौ बजे के करीब मैं जबरदस्ती उसे थोड़ा-सा दूध और ब्रेड दे पायी।

'मम्मी, जरा अखबार देना।' उसने थके स्वर में कहा।

'देखती हूं, बेटे। सुबह हड़बड़ाहट में पता नहीं कहां रखा गया है।' मैंने कह दिया। अखबार इस समय तक राख हो चुका था। मैं नहीं चाहती थी कि गुड़िया उसे दोबारा पढ़े। लाश की फोटो उसमें नहीं दी गयी थी। पर संवाददाता ने ऐसा हृदयद्रावक वर्णन किया था कि पढ़ते हुए मेरा भी कलेजा कांप गया था। वहां तो सब देखकर मैंने आंखें बंद कर ली थी, परंतु पेपर में जैसा वर्णन था, उन सारी बातों को जैसे मैं फिर से जी गयी थी।

'मम्मी!'

'क्या है, बेटे?'

'उस दिन उन्हें घर में नहीं बुलाती, तो कितना अच्छा होता न।'

'बार-बार उन बातों को दोहराने से कोई लाभ है, बेटा?'

'मैं क्या करूं, मेरे मन से यह बात निकलती ही नहीं कि मैं उनकी मृत्यु का कारण हूं। मैं उन्हें मौत के दरवाज़े तक ढकेल आयी थी। सचमुच मैंने उन्हें मार डाला।' उसने तकिये पर सिर पटकते हुए आर्त स्वर में कहा।

मैं परेशान हो उठी। किसी तरह स्वर को संयत करके कहा, 'देखो बेटे! मौत जब आती है, तो अपने आप बहाना ढूंढ़ लेती है। तुम इस ऊटपटांग खयाल को दिल से निकाल दो···

और फिर सबके सामने यूं अपने मन की बात कही थोड़े ही जाती है। लोग कुछ भी सोच सकते हैं!'

'क्या सोचेंगे?'

अब इस बात का जवाब मेरे पास क्या था? मैं चुपचाप उठकर कमरे की चीज़ें करीने से रखने का नाटक करने लगी। मेंटल-पीस पर रखी हुई साईं बाबा की मूर्ति को हाथ में लेते ही मैंने अनायास गुड़िया की ओर देखा, वह अपलक मूर्ति को निहार रही थी। उसकी आंखों में पता नहीं क्या-क्या तिर आया था, जो व्यक्ति परसों दुनिया का सबसे कुत्सित प्राणी था, मरने

के वाद फिर से अपने पुराने रूप में याद आ रहा था।

वह मूर्ति पिछले साल गंगाधर ही लाया था। वे दोनों मियां-वीवी शिरडी गये हुए थे। लौटते हुए विधु के लिए यह मूर्ति लाए थे। उसने उसे वेडरूम में ही रख छोड़ा था, ताकि सुवह पहले उन्हीं के दर्शन हों।

पता नहीं, मुझे क्या हुआ। मैंने मूर्ति उठाकर सेफ में वंद कर दी। गुड़िया ने कुछ ऐसी दृष्टि से मुझे देखा कि मैं स्वयं को अपराधी अनुभव करने लगी। मुझे लगा कि जव तक वह गंगाधर के स्नेहमय रूप को याद करती रहेगी, स्वयं को इसी तरह उसकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी गिनती रहेगी।

इस स्थिति से उसे उवारने के लिए मैंने जैसे अपने आपसे कहा, 'मरने वाले की वुराई नहीं करनी चाहिए। लेकिन अच्छा ही हुआ, जो अपनी मौत चला गया नहीं तो•••नहीं तो शायद मुझे यह काम करना पड़ता।'

मैंने विलकुल झूठ भी नहीं कहा था। उस दिन सचमुच इतना ही क्रोध आ गया था मुझे। पर उसकी मृत्यु के तीन दिन वाद यह कथन वड़ा वेसुरा लग रहा था। मैंने स्पष्ट देखा कि विधु ने घृणा से मुंह फेर लिया और तकिये में मुंह छिपाकर चुपचाप रोती रही। उसे सांत्वना दे सकूं, इतना भी साहस तव न रहा।

शाम तक उसकी कई सहेलियां आकर हालचाल पूछ गयीं। हर वार मुझे डर लगता रहा कि यह कहीं ऊलजलूल न वक दे। खासकर लता जव आयी, तो मैं वहीं जमकर वैठी रही। लता उसकी सवसे अंतरंग सखी थी। लता से ज्यादा खतरा मुझे उसकी मां से था। चलती-फिरती सूचना-केंद्र थी। उसके कानों तक वात पहुंचने भर की देर थी। चौवीस घंटे के अंदर-अंदर विधु का नाम शहर में मशहूर हो जाता।

जितनी देर लता वैठी रही, गुड़िया ने एक वार भी मुंह नहीं खोला। वस, आंख वंद किये चुपचाप लेटी रही। वह उसके सिर पर हाथ फेरती रही। तीन-चार दिन तो यह क्रम चला, फिर वह भी वोर हो गयी। आखिर थी तो वच्ची ही। चौथे दिन जव मैं उसे छोड़ने वाहर तक गयी, तो वोली, 'क्या वात है आंटी, विधु तो एकदम गुमसुम-सी हो गयी है? तवीयत तो अव ठीक है न!'

'घर में बैठे-बैठे ऊटपटांग बातें सोचा करती है न। तुम लोग कोई पिक्चर का प्रोग्राम क्यों नहीं बनाती ? परीक्षा के बाद एक देखने की बात थी न।' मैंने सुझाया।

'थी तो, पर हम लोगों ने सोचा···कल चले जायेंगे।'

उसके साथ सिनेमा का प्रोग्राम तय करके मैंने गुड़िया को सूचना दी। पिक्चर के नाम से हमेशा उछल पड़ने वाली वह गंभीर बनी बैठी रही। 'मैंने उन लोगों से वादा कर लिया है, गुड़िया !'

'ठीक है, चली जाऊंगी। लेकिन अकेले नहीं, तुम भी साथ चलोगी।' उसने ठंडे स्वर में कहा।

'मैं ! मैं लड़कियों के बीच अच्छी लगूंगी क्या ? और फिर मेरा फिलहाल पिक्चर जाना वैसे भी शोभा नहीं देगा।'

'और मुझे शोभा देता है ?' उसने तीखी दृष्टि से मुझे बींधते हुए कहा।

बात वहीं समाप्त हो गयी। किसी तरह उसकी सहेलियों को समझाया जा सका। धीरे-धीरे उन लोगों का आना भी कम हो गया। करीब-करीब सभी छुट्टियों में बाहर जा रही थीं। मेरी भी छुट्टियां समाप्त हो रही थीं। सूने घर में उसे अकेले छोड़ते न बनता था।

ऐसे में बिन्नी (विनीता, मेरी ननद) मुझे देवदूत की तरह लगी। गुड़िया की बीमारी की खबर सुनकर दिल्ली से दौड़ी चली आयी थी। अपनी लाड़ली बुई को देखते ही उसके चेहरे पर चमक आ गयी थी। बिन्नी के साथ में पराग-निहार भी थे ही। मैंने सोचा—चलो, अब इसे सोचने के लिए खाली वक्त नहीं रहेगा।

लेकिन मैंने देखा कि अनजाने ही मेरा सोच बढ़ गया था। दफ्तर में टाइप करती उंगलियां एकाएक रुक जातीं। सोचती, गुड़िया ने बिन्नी के सामने सब-कुछ उगल न दिया हो। कई बार छुट्टी लेकर जल्दी लौट भी आती। बिन्नी की ओर देखकर टोह लेती कि वह कितना जान गयी है। पर कुछ पता न चलता।

उस दिन गंगाधर के यहां जाने की बात चली। बिन्नी का जाना जरूरी था, पर गुड़िया भी जिद पर आ गयी।

'कितनी बार कहा है तुमसे, ऐसी जगह बच्चे नहीं जाया करते। तुम

घर पर पराग, निहार को देखना। हम लोग घंटे भर में लौट आयेंगे।'

वह मुझे घूरती हुई दूसरे कमरे में चली गयी। इन दिनों मुझे देखने का एक खास ढंग उसने अपना लिया था। कभी-कभी तो उस दृष्टि से दहशत-सी होने लगती थी।

'भाभी! तुम अभी तक उसे छोटे वच्चों की तरह झिड़क देती हो, अच्छा नहीं लगता।' रास्ते में विन्नी ने कहा, 'मैं हैरान हूं। तुम एक बार भी उसे छाया से मिलाने नहीं ले गयीं। इस घर में और दूसरे घरों में क्या कोई फर्क ही नहीं है। कम-से-कम वच्चों को एकाध दिन घर ले आतीं अपने।'

क्या कहती मैं! चुप वनी रही। लौटते वक्त छाया के दोनों वच्चे भी साथ थे। वेचारे वच्चे, वहां सहमे-सहमे घूम रहे थे। यहां आते ही खिल गये। चारों-पांचों ने मिलकर घर सिर पर उठा लिया। जव तक सो नहीं गये, मस्ती करते रहे।

रात में मैं रसोई धो रही थी। विन्नी और गुड़िया विस्तर लगा रही थीं। चारों शैतान ड्राइंगरूम में कहीं कालीन पर, कहीं सोफे पर लुढ़क गये। एक-एक कर उन लोगों को लाकर सुलाया गया।

'वुई?'

'हां, वेटे!'

'तरुण-तृप्ति कितने छोटे हैं न!'

'हां, वेचारे इतनी-सी उम्र में वाप की छाया खो वैठे।'

'वुई, क्या ये वड़े होने पर चाचा को याद रख पायेंगे?'

'नहीं। और एक तरह से अच्छा ही है, गुड़िया। हम वड़े भूल नहीं पाते, इसी से तो दुनिया में इतने सारे दुःख हैं।'

'यही तो, इन वच्चों को देखकर तो और भी दुःख होता है। इतनी-सी उम्र में अनाथ हो गये वेचारे, मेरी तरह।'

'ऐसा नहीं कहते, विटिया!'

'सच कहती हूं वुई, कभी-कभी ऐसा सोच हो आता है।'

'गुड़िया ऽऽ!'

मेरी आवाज़ उनकी मद्धम आवाज़ों को चीरकर वेडरूम तक पहुंची।

रसोई में सिर्फ मेरे हाथ काम कर रहे थे। सारा ध्यान तो केन्द्रित था बाहर की ओर। मुझे गर्व हो रहा था कि ठीक समय पर मैंने संभाषण का सूत्र तोड दिया है।

'क्या है ?' उसकी सूखी-सी आवाज़ मन को कंपा गयी, फिर भी मैंने हंसने का यत्न करते हुए कहा, 'जरा डॉक्टर आंटी के यहां से दही तो ले आ, बेटी। थोड़ा-सा दूध बच गया है, जमा दूंगी।'

वह दरवाजे से हिली नहीं। मैंने कटोरी उसके आगे की। उसने लेकर शांति से वह बर्तनों के शेल्फ पर रख दी और फिर कमर पर हाथ रखकर बोली, 'रात को दही न मांगने का सिद्धांत तुम्हारा क्या हुआ ?'

'अरे, कभी मजबूरी में ...'

'कैसी मजबूरी है ? यह घर में इतना दही है, नहाओगी क्या ?' उसने अलमारी खोलकर डोंगा मेरे सामने कर दिया। उसके बोलने का ढंग मुझे अच्छा नहीं लगा, फिर भी मैंने टालने के इरादे से कहा, 'अरे, मुझे तो याद ही नहीं रहा। अच्छा, रहने दे। जा तू।'

पर गैस साफ करते हुए मैंने उसकी जलती हुई आंखों को अपनी पीठ पर स्पष्ट अनुभव किया। न चाहने पर भी आंखें उधर को उठ गयीं।

'तुम इतनी भोली नहीं हो, मम्मी, जितना बनती हो।' उसने किसी खलनायिका की तरह चबा-चबाकर कहा।

'क्या बक रही है ?' मैंने गुस्से को जब्त करते हुए कहा।

'किसी दिन तो कहने दो मुझे। तंग आ गयी हूं तुम्हारी जासूसी से। तुम्हें क्या लगता है, मैं समझ नहीं पाती। कोई भी आता है मेरे पास, तो तुम्हारे कान खड़े हो जाते हैं। मेरी टीचर आए तो, मेरी सहेलियां आए तो, यहां तक कि बुई के साथ भी मुझे घड़ी भर चैन नहीं लेने देती हो। गिद्ध की तरह मंडराया करती हो आसपास, क्यों ?'

सटाक...

उसका आखिरी 'क्यों' मेरे चांटे की आवाज़ में दब गया। मारने के बाद लगा, जैसे मेरे पैरों में जान नहीं रह गयी है। मैं वहीं गीले फर्श पर धम्म से बैठ गयी।

तब तक बिन्नी दौड़कर आ चुकी थी और गुड़िया उससे लिपटकर

रो रही थी। रोते हुए कहती जा रही थी, 'मैं इनसे नफरत करती हूं। मैं इनसे नफरत करती हूं।' विन्नी उसे सहारा देकर विस्तर पर ले गयी।

घंटे भर वाद जव वह लौटी, मैं उसी तरह घुटनों में सिर डाले गुमसुम बैठी थी।

'भाभी!' वह आते ही वरस पड़ी, 'यह तुम्हें क्या हो गया है! सयानी लड़की पर हाथ उठा देती हो। ऐसा व्यवहार मिल रहा है उसे, तभी तो उसे फ़िट्स आने लगे हैं। कहीं नाखून में भी रोग नहीं था, पिछले साल तक। इस तरह तो तुम उसकी ज़िंदगी तवाह कर दोगी। मैं कल ही उसे अपने साथ ले जाऊंगी। ऐसे तो वह लड़की यहां पागल हो जायेगी।'

और सचमुच वह दूसरे दिन उसे अपने साथ ले गयी। सारा प्रोग्राम ऐसे तय हो गया, जैसे विन्नी ही उसकी मां हो। मुझसे पूछने की भी जरूरत नहीं समझी गयी।

स्कूल ट्रिप पर भी जाती, तो मुझसे लिपटकर रोनेवाली विधु! उसने मेरी ओर देखा तक नहीं। मैं वाज़ार से उसके लिए कपड़े खरीदकर लायी, मिठाइयों के डिव्वे, सैंडलें, वुंदे, चूडियां, ब्रोच—उसने किसी चीज की तरफ झांका भी नहीं। मैं स्टेशन भी गयी, आंखों में टीस उठने तक जाती हुई ट्रेन को देखती रही, पर किसी खिड़की से कोई रूमाल, कोई हाथ मेरे लिए नहीं हिला, कोई आंख मेरे लिए गीली नहीं हुई।

आठ-दस दिन वाद विन्नी का क्षमा-याचना वाला पत्र आया था। लिखा था, 'विधु के लिए वातावरण का वदलाव वहुत जरूरी था। तुम ऐसे तो उसे भेजती नहीं, इसलिए नाटक करना पड़ा।'

शायद वह भूल गयी थी कि हर साल गर्मियों में दफ्तर से छुट्टी लेकर मैं उसे घुमा लाती थी। फिर भी मैंने ध्यान नहीं दिया। सोचा, परिवेश में वदलाव भी जरूरी है। शायद मुझसे दूर रहकर वह मेरे वारे में ठीक से सोच सके।

रिजल्ट आने तक मैंने वड़ी मुश्किल से सब्र किया। परीक्षाफल वहुत ही निराशाजनक था। मुश्किल से हायर सेकंड क्लास वन रहा था। आखिरी पेपर उसने लगभग कोरा ही दिया था। उसकी प्रिंसिपल वहुत दुःखी हुई थीं। हम दोनों ने एक-दूसरे को सांत्वना दी। मैंने कॉलेज का

फार्म भरा और उसे लेने दिल्ली पहुंची। मुझे लगा था, वह मुझे देखते ही लिपट जायेगी। पर देखा, उसकी आंखों का वह हिंसक भाव जरा भी सौम्य नहीं हो पाया है।

बिन्नी की सास, जिठानी, पति—सभी उसके नम्र और मधुर स्वभाव की प्रशंसा किये जा रहे थे। सुनकर मन गर्व से फूल भी रहा था। लग रहा था, काश इसका एक शतांश ही मेरे हिस्से में आता।

मौका देख ही रही थी कि उससे चलने के लिए बात करूं कि उसने खुद ही मुझे छत पर आ घेरा।

'क्यों आयी हो यहां ?' उसने उसी स्वर में पूछा, जो उसने सिर्फ मेरे लिए सुरक्षित कर रखा था।

'घर नहीं चलना है, गुड़िया ?' मैंने जबरदस्ती स्वर में मिठास घोलते हुए कहा, 'मैंने तुम्हारा फार्म भर दिया है। जी० डी० सी० में जाओगी न। तुम्हारी सभी सहेलियां वहीं जा रही हैं। लता, मीरा, अनुमा, आयेशा—सब।'

'मेरी कोई सहेली नहीं है। मेरा कोई घर नहीं है। मुझे उस जेल में वापस नहीं जाना। बस।' और वह किसी शेरनी की तरह गर्वोन्नत चाल से वहां से चली गयी।

घोर असमंजस में पड़ी मैं देर तक छत पर टहलती रही। रात के खाने पर कुंअरजी ने ही मेरी समस्या का समाधान किया। बोले, 'भाभी, आपको जानकर खुशी होगी कि गुड़िया को इंद्रप्रस्थ में दाखिला मिल गया है। मेरी एक दूर के रिश्ते की भाभी वहां हैं। उन्हीं की कृपा से यह काम हुआ है। अब एम० ए० तक आपको चिंता नहीं करनी होगी।'

मेरे कहने-सुनने की कुछ गुंजाइश वहां थी ही नहीं। फिर भी उनका हंसता हुआ चेहरा देखकर मन में संदेह का ज्वार उठा। बिन्नी को एक तरफ ले जाकर कहा, 'कहां का झमेला मोल ले रही है। जानती है, सयानी लड़की आग की तरह होती है। इसे संभालना बड़ी जिम्मेदारी का काम है।'

'तभी तो तुमसे बिना पूछे यहां दाखिला करा लिया, तुम तो दिन भर रहती हो दफ्तर में। अकेली लड़की घर में रहेगी, तो डर ही रहेगा।'

रो रही थी। रोते हुए कहती जा रही थी, 'मैं इनसे नफरत करती हूं। मैं इनसे नफरत करती हूं।' विन्नी उसे सहारा देकर विस्तर पर ले गयी।

घंटे भर वाद जब वह लौटी, मैं उसी तरह घुटनों में सिर डाले गुमसुम वैठी थी।

'भाभी!' वह आते ही वरस पड़ी, 'यह तुम्हें क्या हो गया है! सयानी लड़की पर हाथ उठा देती हो। ऐसा व्यवहार मिल रहा है उसे, तभी तो उसे फिट्स आने लगे हैं। कहीं नाखून में भी रोग नहीं था, पिछले साल तक। इस तरह तो तुम उसकी ज़िंदगी तवाह कर दोगी। मैं कल ही उसे अपने साथ ले जाऊंगी। ऐसे तो वह लड़की यहां पागल हो जायेगी।'

और सचमुच वह दूसरे दिन उसे अपने साथ ले गयी। सारा प्रोग्राम ऐसे तय हो गया, जैसे विन्नी ही उसकी मां हो। मुझसे पूछने की भी जरूरत नहीं समझी गयी।

स्कूल ट्रिप पर भी जाती, तो मुझसे लिपटकर रोनेवाली विधु! उसने मेरी ओर देखा तक नहीं। मैं वाजार से उसके लिए कपड़े खरीदकर लायी, मिठाइयों के डिब्वे, सैंडलें, वुंदे, चूडियां, ब्रोच—उसने किसी चीज़ की तरफ झांका भी नहीं। मैं स्टेशन भी गयी, आंखों में टीस उठने तक जाती हुई ट्रेन को देखती रही, पर किसी खिड़की से कोई रूमाल, कोई हाथ मेरे लिए नहीं हिला, कोई आंख मेरे लिए गीली नहीं हुई।

आठ-दस दिन वाद विन्नी का क्षमा-याचना वाला पत्र आया था। लिखा था, 'विधु के लिए वातावरण का वदलाव वहुत जरूरी था। तुम ऐसे तो उसे भेजती नहीं, इसलिए नाटक करना पड़ा।'

शायद वह भूल गयी थी कि हर साल गर्मियों में दफ्तर से छुट्टी लेकर मैं उसे घुमा लाती थी। फिर भी मैंने ध्यान नहीं दिया। सोचा, परिवेश में वदलाव भी जरूरी है। शायद मुझसे दूर रहकर वह मेरे वारे में ठीक से सोच सके।

रिजल्ट आने तक मैंने वड़ी मुश्किल से सब्र किया। परीक्षाफल वहुत ही निराशाजनक था। मुश्किल से हायर सेकंड क्लास वन रहा था। आखिरी पेपर उसने लगभग कोरा ही दिया था। उसकी प्रिंसिपल वहुत दुःखी हुई थीं। हम दोनों ने एक-दूसरे को सांत्वना दी। मैंने कॉलेज का

फार्म भरा और उसे लेने दिल्ली पहुंची। मुझे लगा था, वह मुझे देखते ही लिपट जायेगी। पर देखा, उसकी आंखों का वह हिंसक भाव जरा भी सौम्य नहीं हो पाया है।

बिन्नी की सास, जिठानी, पति—सभी उसके नम्र और मधुर स्वभाव की प्रशंसा किये जा रहे थे। सुनकर मन गर्व से फूल भी रहा था। लग रहा था, काश इसका एक शताश ही मेरे हिस्से में आता।

मौका देख ही रही थी कि उससे चलने के लिए बात करूं कि उसने खुद ही मुझे छत पर आ घेरा।

'क्यों आयी हो यहां ?' उसने उसी स्वर में पूछा, जो उसने सिर्फ मेरे लिए सुरक्षित कर रखा था।

'घर नहीं चलना है, गुड़िया ?' मैंने जबरदस्ती स्वर में मिठास घोलते हुए कहा, 'मैंने तुम्हारा फार्म भर दिया है। जी० डी० सी० में जाओगी न। तुम्हारी सभी सहेलियां वहीं जा रही हैं। लता, मीरा, अनुभा, आयेशा—सब।'

'मेरी कोई सहेली नहीं है। मेरा कोई घर नहीं है। मुझे उस जेल में वापस नहीं जाना। बस।' और वह किसी शेरनी की तरह गर्वोन्नत चाल से वहां से चली गयी।

घोर असमंजस में पड़ी मैं देर तक छत पर टहलती रही। रात के खाने पर कुंअरजी ने ही मेरी समस्या का समाधान किया। बोले, 'भाभी, आपको जानकर खुशी होगी कि गुड़िया को इंद्रप्रस्थ में दाखिला मिल गया है। मेरी एक दूर के रिश्ते की भाभी वहां हैं। उन्हीं की कृपा से यह काम हुआ है। अब एम० ए० तक आपको चिंता नहीं करनी होगी।'

मेरे कहने-सुनने की कुछ गुंजाइश वहां थी ही नहीं। फिर भी उनका हंसता हुआ चेहरा देखकर मन में संदेह का ज्वार उठा। बिन्नी को एक तरफ ले जाकर कहा, 'कहां का झमेला मोल ले रही है। जानती है, सयानी लड़की आग की तरह होती है। इसे संभालना बड़ी जिम्मेदारी का काम है।'

'तभी तो तुमसे बिना पूछे यहां दाखिला करा लिया, तुम तो दिन भर रहती हो दफ्तर में। अकेली लड़की घर में रहेगी, तो डर ही रहता है।

यहां तो मैं हूं, अम्मा हैं, भाभीजी हैं।'

इस दलील का मेरे पास कोई जवाब नहीं था। जैसे गयी थी, वैसे ही लौट आयी मैं। जाते समय मन में उत्साह था, लौटते हुए निराशा। उस निराशा भरी मानसिक अवस्था में घर और भी सूना लग उठा।

शाम को डॉक्टर साहब के चीकू ने पूछा, 'दीदी नहीं आयी, आंटी!' जवाब देते-देते मैं एकदम रो ही पड़ी।

उस रात डॉक्टर दंपति देर तक बैठे मुझे समझाते रहे। अगले तीन-चार दिनों तक भी चाय-नाश्ता वहीं से आता रहा। आखिरकार मुझे ही शर्म आने लगी। सारी उदासी एक ओर फेंककर मैं नये सिरे से अपनी दिनचर्या में जुट गयी। पिछले दो-तीन महीने में स्वप्नावस्था ही में जी रही थी। सोते-बैठते मेरा मन गुड़िया में ही लगा रहता था। अब मन उतना बिखरा-बिखरा नहीं रहा। एक बार मनुष्य निश्चय कर ले, तो सब-कुछ सहज हो जाता है। मैंने सारा संचित दुलार चीकू पर उंडेलना प्रारंभ किया। बड़ा प्यारा बच्चा था। गैलरी में खड़े होकर मेरे दफ्तर से लौटने की राह देखा करता। उसके लिए आते हुए रोज मैं फल, बिस्कुट, खिलौने, टॉफी—कुछ-न-कुछ लेकर ही आती। उसके मां-बाप बहुत नाराज होते। पर मुझसे खाली हाथ घर आया नहीं जाता।

दीवाली की छुट्टियों में विधु की प्रतीक्षा थी। पर एक महीना पहले ही विन्नी ने लिखा कि उसके कॉलेज की ट्रिप गोआ जा रही है। अगर मैं कह दूं, तो अच्छा रहेगा। क्योंकि इतने कम पैसों में इतनी दूर जाने का सुयोग फिर नहीं जुटेगा।

मैंने चुपचाप पैसे भेज दिये। हैरत की बात तो यह कि इस अपेक्षाभंग पर मुझे जरा भी आश्चर्य या दुःख नहीं हुआ। जैसे मुझे इस बात का पहले ही से अनुमान था। यूं दीवाली से पहले-पहले सारी ट्रिपें लौट आया करती हैं, पर विन्नी वगैरह को असमंजस से बचाने के लिए मैंने लिख दिया कि मैं भी दीवाली भैया के यहां की कर रही हूं और अम्मा से मिलने चली गयी।

क्रिसमस की छुट्टियों में विन्नी खुद उसे लेकर आयी। इन छह

महीनों में वह एकदम बड़ी-सी लग उठी थी। दिल्ली की पालिश उसकी बोलचाल में, रहन-सहन में आ गयी थी। वह निश्चय ही पहले से अधिक सुंदर हो गयी थी। पर साथ ही यह लगता रहा कि यह मेरी गुड़िया नहीं है, बिन्नी की लड़की है। लगा कि बाजार से अपनी पसंद की चीज ला-कर उसे पहनाने का अधिकार मेरा नहीं रहा।

जाते हुए बिन्नी की तरह उसके हाथों पर भी मैंने रुपये रख दिये थे।

वह दस-बारह दिन रही, पर एक दिन भी हम लोग निकट नहीं आ सके। वह और मैं, दोनों ही अकेले में सामने पड़ने से कतराते रहे। जाने से पहले एक दिन मैंने ही हिम्मत करके कहा था, 'विधु! गर्मी की छुट्टियों का क्या प्रोग्राम है?'

वह सिर्फ मुझे घूरती रह गयी थी।

'क्या दिल्ली ही में बनी रहोगी? कम-से-कम छुट्टियों में तो बाहर जाया करो। यहां न आना चाहो, तो नागपुर चली जाना, मामाजी के पास। नहीं तो किसी दिन बिन्नी के घरवाले बोर हो जायेंगे।'

वह कुछ सोचकर बोली, 'ठीक है, मामाजी के पास चली जाऊंगी। पर एक शर्त है, तुम नहीं जाओगी मेरे साथ।' यह बात कहते-कहते उसकी आंखों में वैसा ही हिंसक भाव तैर आया था। उसकी इन आंखों से मुझे डर-सा लगने लगा था। कई बार लगा, इसे किसी मनश्चिकित्सक के पास ले जाऊं। दिल्ली में थी तो एक बार बिन्नी से दबी जबान से चर्चा भी की। लेकिन वह मुझ पर बरस पड़ी थी, 'भाभी, उसे कुछ नहीं हुआ है। वह सिर्फ़ तुमसे नाराज है। इसका कारण जो भी रहा है, पर वह एकदम नॉर्मल लड़की है। ऐसी-वैसी जगह उसे दिखाती फिरी, तो कल को जरूर पागल हो जायेगी। किसी को भनक भी पड़ गयी, तो कल को शादी होनी मुश्किल हो जायेगी।'

शायद बिन्नी ठीक ही कहती थी। इन दिनों मुझे छोड़कर शायद सभी ठीक थे। लेकिन मेरी हर बात काटी जाती थी। विधु का हित-अहित जैसे मुझसे ज्यादा ये लोग समझते थे।

मुझसे तो खैर, वह नाराज थी ही, पर छुट्टियों में न वह अपनी

सहेलियों से मिली, न स्कूल में मिलने गयी, न पड़ोसियों के निमंत्रण स्वीकार किये।

उसकी प्रिंसिपल को तो खैर, मैंने समझा दिया कि रिजल्ट खराब होने की वजह से वह आपके सामने नहीं आ रही, पर और लोगों की राय को मैं नहीं बदल सकी कि दिल्ली जाकर विधुमुखी बदल गयी है, घमंडी हो गयी है।

उन लोगों के जाने के वाद की वात है। रविवार की सुवह मैं डॉक्टर साहव के यहां वैठी हुई थी। यूं तो मेरा अधिकतर समय वहीं वीतता था, पर उस रोज़ डोसा-इडली का प्रोग्राम था। मैं विशेष रूप से निमंत्रित थी।

वातों के दौरान डॉक्टर साहव वोले, 'इस वार विधु कव आयी, कव चली गयी, पता ही नहीं चला। नहीं तो इन दोनों घरों में उसकी वजह से काफी रौनक हुआ करती थी।'

'मैं तो खुद हैरान हूं। पता नहीं एकदम कैसी तो हो गयी है। कहां तो सहेलियों के विना एक पल चैन नहीं आता था उसे और अव इतने दिनों वाद आयी भी, तो न तो किसी के घर गयी, न घर आयी लड़कियों से ढंग से वात ही की। चिट्ठी-विट्ठी लिखना तो दूर ही रहा, वस दिन भर वुई और उसके वच्चे! यही उसकी दुनिया हो गयी है।' मैंने कहा।

'लगता है, फर्स्ट क्लास खोने की वात को उसने जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया है।'

'लेकिन डॉक्टर साहव, यह कोई इतनी वड़ी वात तो···'

'भाभी, आप नहीं समझेंगी। यह किशोर मनोविज्ञान वड़ा अजीव होता है। कौन-सी वात उनके लिए वड़ी हो जायेगी, कहा नहीं जा सकता। उसके लिए तो अपना रिजल्ट हमेशा से महत्त्वपूर्ण रहा है। शर्म तो उसे अपने आप पर आ रही है। लेकिन अपने को वचाने के लिए सारा गुस्सा दूसरों पर निकाल रही है। एकाएक ठोकर लग जाने पर हम लोग सामनेवाले पर भड़क उठते हैं न! वैसे ही।'

डॉक्टर साहव की वात मन को भीतर तक छू गयी। मेरा व्यथित [म]न उनकी सांत्वना के लिए तड़प उठा। भर्राये कंठ से मैंने कहा, 'वह [थ]ोड़ी भी नॉर्मल हो सकती, तो मैं उसे समझाना चाहती थी कि यह ऐसी

बड़ी बात नहीं है। वह व्यर्थ ही अपना जी जला रही है। पर क्या करूं ? वह तो मुझमें भी विश्वास खो चुकी है। मुझसे ज्यादा उसे इन दिनों विन्नी पर विश्वास है।'

'यह भावुकता का एक दौर है, आप उस पर बहुत ज्यादा ध्यान न दें। सबसे ज्यादा तो वह आपसे जुड़ी हुई है। इसलिए आपके सामने सबसे ज्यादा अपराधी महसूस करती है। यह उदासीनता तो अपनी शर्म को छिपाने का एक बहाना भर है।'

कितना ठीक निदान किया था उन्होंने। कारण चाहे उन्हें अज्ञात रहा हो, पर मर्ज उन्होंने ठीक पकड़ लिया था।

'भार्भी ! मैंने कहा न, इस बात पर आपको ज्यादा नहीं सोचना है।' मेरी विचार-तंद्रा को तोड़ते हुए उन्होंने कहा। फिर पत्नी से बोले, 'आभा ! यह तुम्हारा कर्तव्य है। इन्हें अकेला बिलकुल मत छोड़ा करो। दिनभर पता नहीं क्या-क्या सोचती रहती हैं ?'

मैंने अनजाने ही मिसेज मित्रा की ओर देखा, वे चुपचाप 'सर्व' करती रहीं। हमेशा की तरह पति की बातों का समर्थन उन्होंने नहीं किया। उनकी परिचित मुसकराहट भी चेहरे पर नहीं आयी। उनके व्यवहार में एक अव्यक्त ठंडापन था, जिसे केवल नारी ही समझ सकती है। और मुझे लगा कि यह परिवर्तन अचानक नहीं हुआ है। पिछले कुछ दिनों से धीरे-धीरे होता आ रहा है। चीकू भी अब ज्यादा देर मेरे पास बैठ नहीं पाता। कभी दूध पीने के बहाने, कभी नहाने या पढ़ने के बहाने मम्मी उसे बुला ले जाती, डॉक्टर साहब के व्यवहार में जरूर कोई फर्क नहीं आया। अकसर निमंत्रण की पहल वे ही करते और शायद यही अनर्थ की जड़ थी।

शर्म से भर उठी मैं। मेरे छोटे भाई की उम्र के रहे होंगे बेचारे, पर अकेली औरत तो असुरक्षित होती है। उसके संबंध में इतनी ऊंच-नीच कौन देखता है।

घर लौटने का यह एकमात्र आकर्षण समाप्त होने पर मैंने दफ्तर में अपने को काम से लाद लिया। आंखें दुःख आतीं, उंगलियों के पोर-पोर दर्द कर उठते, पर मैं मशीन पर बैठी रहती। इसका एक लाभ यह भी होता

कि रात विस्तर से पीठ लगते ही नींद आ जाती।

एक दिन साहव ने पूछ ही लिया, 'क्या वात है, मिसेज़ नरेंद्र? आजकल आपको घर भागने की जल्दी नहीं रहती!'

'जी, वेवी इन दिनों दिल्ली में है। वहीं पढ़ रही है। घर पर अकेले वैठना होता है, तो यहां वैठ लेती हूं।' मैंने नम्रता से कहा।

'दिल्ली पढ़ रही है? वहुत अच्छा। वहुत वढ़िया शहर है! देखना कुछ दिनों वाद यहां आना भी पसंद नहीं करेगी। मैं भी दिल्ली यूनिवर्सिटी का छात्र रहा हूं। दस साल आपके इस घटिया शहर में रहने के वाद भी, वहां की खुशनुमा यादें धुंधली नहीं हुई हैं।'

वड़ी छोटी-सी वातचीत थी, पर उस अनौपचारिक वातचीत ने हम लोगों के वीच का अंतर एक मिलीमीटर तो कम-से-कम घटा ही दिया था। उस दिन उन्होंने मेरे लिए कॉफी मंगवायी। इसके वाद किसी दिन गाड़ी में लिफ्ट भी दी। क़िसी दिन वाजार में सामना हो जाने पर दुआ-सलाम के वाद कॉफी हाउस में आमंत्रित भी किया। शायद वे ईमानदारी से मेरा अकेलापन वांटना चाहते थे। शायद उनकी नियत उतनी साफ़ न भी हो, पर मुझे शिकायत का कभी मौका नहीं मिला।

पर दफ्तर में सवकी दृष्टि में एक मौन उपालंभ उतर आया। जो आंखें पहले आदर से झुक जाती थीं, अव वेवाकी से मेरा पीछा करतीं। जव-जव केविन से वुलावा आता, लगता जैसे मैं घूरती हुई आंखों का गार्ड ऑफ ऑनर लेती जा रही हूं।

तव समय काटने के लिए मैं लायव्रेरी जाने लगी। सव ओर से कट-कर यूं कितावों की दुनिया में खो जाना वड़ा प्यारा लगा। वड़ी कोफ्त हुई के यह वात पहले क्यों न सूझी।

वहीं लायव्रेरी में कोई दुर्लभ पुस्तक खोजते हुए एक दिन प्रोफेसर ुप्ता मिल गये। नरेंद्र के सहपाठी रह चुके थे। घर पर भी कभी आते रहे । वे मनुहार करके घर ले गये। मिसेज गुप्ता और वच्चे वड़े प्रेम से मले। मुझे जवरदस्ती खाने के लिए रोक लिया गया। लौटी, तो नये-राने लेखकों की दस-वारह पुस्तकें मेरे हाथ में थीं। प्रोफेसर साहव खुद र तक छोड़ गए थे।

लेकिन यह स्नेह और आदर हर बार नही मिला। चौथी बार जब मैं पुस्तकें लौटाने गयी, तो गृहस्वामिनी बाहर भी नहीं आयी। वहीं रसोई में बैठी बच्चों पर चीखती रही।

अनुभव के कड़वे घूट पीकर मैंने जान लिया कि मैं समस्त पत्नी-समाज के लिए खतरे का निशान बन गयी हूं। तब मैंने पार्क का आश्रय लिया। एम. ए. समाजशास्त्र का फार्म भरकर इतने दिनो की छूटी पढाई फिर प्रारंभ कर दी। पार्क के एकात कोने मे बैठ देर तक पढती रहती। मेरी तरह और भी कई लोग वहां पढते होते। मेरी उपस्थिति किसी जिज्ञासा या कुतूहल को नही जगाती।

विधु को दिल्ली गये दो साल हो गये थे। इस बीच जब भी आयी, अपनी बुई के साथ ही आयी।

इसीलिए उस दिन घर लौटने पर सामने एकदम बिन्नी को देखा (अकेले ही), तो मैं चकित रह गयी।

'अरे, कब आयी ?'

'दोपहर को।'

'तो फोन क्यों नही कर दिया ?'

'मिसेज मिश्रा बोलीं, तुम शायद दफ्तर मे मिलोगी नही।'

मैंने ताला खोला। वह मेरे पीछे-पीछे घर मे आयी।

'जरा साडी बदल लू, बिन्नी। बस, एक मिनट मे खाना तैयार करती हू।'

'भाभी, मैंने पडोस मे खा लिया है। मिसेज मिश्रा बोली, तुम कई बार बाहर ही खा आती हो।'

'तुम्हारे लिए तो बना ही देती।' मैंने गुस्सा जब्त करते हुए कहा।

'परीक्षा दे रही हो क्या ?' उसने मेरी पुस्तकें उलट-पलट करते हुए पूछा।

'हा, क्यों, मिसेज मिश्रा ने यह नही बताया क्या तुम्हे ?' मेरी आवाज कुछ ज्यादा ही तल्ख हो गयी थी।

मैंने गैस जलाकर कॉफी बनायी। एक कप उसे दिया, एक अपने

लिए भर लिया। अलमारी से ब्रेड निकाल ली और खाना शुरू कर दिया।

'यह क्या, आज सिर्फ ब्रेड ही ?' विन्नी ने पूछा।

'हां, जिस दिन वाहर नहीं खाती, घर पर इसी से पेट भर लेती हूं।' मैंने कहा और अपने स्वर की कटुता से खुद ही सहम गयी। थोड़ा-सा सौम्य होकर वोली, 'वात यह है विन्नी कि अपने अकेले के लिए सारा सरंजाम करने की इच्छा नहीं होती। सुवह तो जैसे-तैसे वना भी लेती हूं। पर शाम को जरा भी इच्छा नहीं होती।'

विन्नी लेकिन वैसा ही आहत भाव चेहरे पर लिये वैठी रही।

रात विस्तर पर आते ही उसने कहा, 'भाभी ! तुम्हें शायद मिसेज मित्ता की वात का वुरा लग गया, पर तुम किसी के मुंह पर हाथ तो नहीं रख सकतीं न। और फिर उनका दोप ही क्या है ? उनकी जगह तुम होतीं, तुम भी यही करतीं। क्योंकि कोई भी औरत इतनी दरियादिल नहीं हो सकती।'

मैं वेवकूफों की तरह सिर्फ उसे देखती रही। वह अपनी रौ में कहे जा रही थी, 'हम लोग कोई महात्मा नहीं हैं, हाड़-मांस के मनुष्य हैं। इतनी वड़ी पहाड़-सी जिंदगी अकेले काटना वड़ा कठिन होता है, यह क्या मैं जानती नहीं ! लेकिन फिर भी औचित्य की सीमा लांघना तो ठीक नहीं है।'

'आखिर तुम्हें कहना क्या है ?' मैंने खीझकर कहा। मुझे इतना गुस्सा आ रहा था। यह वित्ते भर की छोकरी, जिसे मैंने फ्रॉक और दो चोटी में देखा था, जिसका मैंने कन्यादान किया था, मुझे नीति और धर्म का पाठ पढ़ा रही थी।

'मुझे जो कहना था, वह तो मैंने तव भी कहा था, जव भैया की मृत्यु हुई थी। आज कोई नई वात नहीं कहूंगी मैं।'

'मैं नहीं सोचती, आज उस चर्चा की कोई जरूरत है।' मैंने रुखाई से कहा।

विन्नी तनकर वैठ गयी, 'जरूरत कैसे नहीं है ! आज इस चर्चा की जितनी जरूरत है, पहले कभी नहीं थी। तुम्हें मालूम है कि विधु के अवचेतन में तुम्हारे कारण कैसी-कैसी ग्रंथियां पड़ गयी हैं। शायद

इसीलिए वह तुमसे इतनी नफरत करने लगी है।'

'बी० ए० में मनोविज्ञान लेने से कोई मनोवैज्ञानिक नहीं हो जाता, विन्नी!' मैंने व्यंग्य किया।

'यह बात मेरी है भी नहीं। यह बात दिल्ली के एक बड़े मनोविशेषज्ञ ने बतलायी है। भाभीजी विधु को लेकर वहीं गयी थीं।'

'तुम्हारी जिठानीजी को मेरी बेटी में इतनी दिलचस्पी दिखाने की क्या जरूरत आ पड़ी!'

'जरूरत तो सचमुच आ पड़ी है। दीपू गुड़िया पर जान दिये बैठा है और भाभीजी चाहती हैं कि उसे इग्लैंड भेजने से पहले कम से कम मंगनी तो हो ही जाए। इसीलिए वे उसे डॉक्टरों के पास ले जाती रही हैं। और इसीलिए मैं तुम्हारे पास आयी हूं। प्लीज भाभी, मना मत करना। इतना अच्छा लड़का फिर हाथ नहीं आयेगा।'

'लेकिन वह तो बहुत छोटी है अभी।' मैंने कांपते स्वर में कहा।

'कहां छोटी है! मुझसे भी एक हाथ लंबी निकल गयी है और इतनी प्यारी लगती है आजकल। दीपू उस पर मर-मिटा है, तो कोई आश्चर्य नहीं है। भाभीजी और अम्माजी भी उस पर जान छिड़कती हैं। बस, उसके फिट्स के बारे में जरा मन डावाडोल था, इसीलिए डॉक्टर के पास गयी थीं।'

'क्या कहा है डॉक्टर ने?'

'यही कि मां को लेकर इसके मन में कुछ कॉम्प्लेक्स है, गांठ है—इसी से मां के सामने पड़ते ही यह अपना संतुलन खो बैठती है। भाभी, तुम नहीं जानतीं, तुमने अनजाने में उसके साथ कितना अन्याय किया है—वह तो यहां से मैं उसे ले गयी, तो अच्छा ही हुआ, नहीं तो लड़की सचमुच हाथ से निकल जाती।'

'तुम लोगों ने गलत समझा है, विन्नी। दरअसल बात यह है...' भावावेश में कहते-कहते मैं एकाएक रुक गयी। यह क्या कहने जा रही थी मैं। यह ठीक है कि अब इतने दिनों बाद गंगाधरवाली बात बिलकुल बेमानी लग रही थी, लेकिन उस दिन तो वह मेरे लिए कितनी बड़ी दुर्घटना प्रतीत हुई थी, पहली बार सुनने पर विन्नी की क्या वही प्रतिक्रिया नहीं

होगी ? क्या उसकी कल्पना के ताने-बाने घटना को अतिरंजित रूप नहीं दे देंगे ? तब क्या इसी आग्रह के साथ वह गुड़िया को अपने घर की बहू बनाने पर राजी होगी ! हो भी गयी, तो क्या वही स्नेह, वही आदर दे सकेगी ?

अपनी गुड़िया के साथ कितना बड़ा अन्याय करने जा रही थी मैं। ईश्वर ने समय पर ही सुबुद्धि देकर मुझे उबार लिया था।

'तू ठीक कह रही है बिन्नी, अकेलापन कभी-कभी इतना असहनीय हो जाता है कि उचित-अनुचित कुछ भी याद नहीं रहता।' मैंने तकिये में मुंह छिपाकर कहा। इतना बड़ा झूठ कैसे बोल सकी थी मैं ! पर बोलते हुए मन में जरा भी कसक नहीं उठी थी।

मेरे उन उद्‌गारों के साथ ही बिन्नी का रोष पता नहीं कहां बिला गया था। वह एकाएक मेरे ऊपर झुक आयी। एक साथ मेरी मां, मेरी सखी, मेरी बिटिया बनकर मेरे शरीर पर हाथ फेरती रही। उसके स्नेहिल स्पर्श से मेरे इतने दिनों का संचित दर्द आंसू बनकर फूट पड़ा था और मैं रोते-रोते सो गयी थी।

उसकी शादी में मैं नहीं जा पायी थी। उसे वधू वेश में देखने का अरमान मैंने मन-ही-मन में जब्त कर लिया था। रिश्ते के देवर कन्यादान कर आये थे। तैयारी सारी बिन्नी ने ही की थी। मैंने सिर्फ रुपया भेज दिया था। अपनी सारी संचित पूंजी मैंने लुटा दी थी। जीने का कोई अर्थ बाकी नहीं रहा था। फिर भी मैं मर नहीं सकी थी। एक आशा थी कि कल को गुड़िया मां बनेगी, अपने ही रक्त-मांस का एक पिंड उसकी गोद में खेलेगा, तब शायद वह जान सकेगी कि मां के लिए छोटे-छोटे भय भी कितने बड़े हो उठते हैं ! उस दिन उसे मेरी याद अवश्य आयेगी, तब अगर मुझे नहीं पायेगी, तो उसकी हंसी में हमेशा के लिए ग्रहण लग जायेगा।

उस दिन की प्रतीक्षा में मुझे जीना था और इस प्रतीक्षा को सफल बनाने के लिए मैंने मिसेज कोहली बनना स्वीकार कर लिया था। अखबारी कागज पर चलकर यह रिश्ता मेरे पास आया था इसलिए इसने मेरा तन ही बांधा था, मन अब भी अतीत के गलियारों में भटक रहा था।

सूरज की तीखी किरणों ने मुझे वर्तमान में ला पटका। कन्याकुमारी का प्रसिद्ध सूर्योदय मैं देख नहीं पायी थी, खुली आंखों से भी अंधी बनी रह गयी थी मैं।

भागी-भागी मैं होटल की तरफ वापस आयी। संकोच के साथ मैंने कमरे में प्रवेश किया। डॉ० कोहली शेव कर रहे थे।

'कहां गायब हो गयी थीं? मैं तो पुलिस में रिपोर्ट देने जा रहा था।' उन्होंने मजाक किया।

'सूर्योदय देखने गयी थी।'

'कैसा लगा?'

'कुछ खास नहीं। कल आपके साथ देखूंगी। शायद अच्छा लगे।' मैंने मृदु स्वर में कहा।

'क्या इसे मैं अपनी तारीफ मानूं?'

उन्होंने मेरी आंखों में सीधे देखते हुए कहा। पर दूसरे क्षण उनका चेहरा शरारत भरी मुसकराहट से दमक उठा और मैंने स्वस्ति की सांस ली।

'सुनो, चाय आकर लौट गयी है। नीचे जाकर चाय के लिए भी कह देना और कैंटीन से एक पैकेट सिगरेट का भी लेती आना।'

चाय के लिए कहते हुए बेहद संकोच हुआ मुझे। बेचारे मेरे लिए अब तक रुके रहे। और सिगरेट लेते हुए तो मेरी ग्लानि की सीमा ही नहीं रही। पद्रह दिन में मैं यह जान नहीं पायी थी कि डॉ० कोहली [illegible] ब्रांड पीते हैं।

ऊपर पहुंची, तो चाय लग चुकी थी। डॉक्टर अखबार हाथ में [illegible] मेरा इंतजार कर रहे थे।

'सॉरी!' कहते हुए मैंने तत्परता से चाय बनायी और हम [illegible] जहान की बातों में खो गये। मुझे मालूम था कि चाय के बाद [illegible] सिगरेट तलब करेंगे। मैंने फुर्ती से उनका चांदी का सिगरेटकेस [illegible] पैकेट की सारी सिगरेटें उसमें डाल दीं और पैकेट छिपा [illegible] में खोये हुए थे।

सिगरेटकेस बन्द करते हुए मुझे लगा, मैंने अन्दर कुछ [illegible]

[illegible]

दुबारा उसे खोला। ढक्कन के अंदर की तरफ एक तसवीर थी। दो गुला
के फूल मेरी तरफ देखकर हंस रहे थे। उनकी आंखें झील की तरह नील
थीं, शायद अपनी मां की तरह। पर बाकी सारे नाक-नक्श हू-ब-हू अप
पिता की तरह थे।

मैंने अनायास ही उनकी तरफ देखा। अखबार एक ओर पड़ा था औ
उनकी आंखें दीवार पर लगे एक कैलेंडर में टंक गयी थीं। पर मैं सम
गयी थी कि उन आंखों में मदुरा का मीनाक्षी मंदिर नहीं है। उन आंख
में उस वक्त टेक्सास के किसी नगर की छवि है। उस नगर का एक साफ़
सुथरा मुहल्ला, उस मुहल्ले में एक प्यारा-सा घर, उसमें एक अप्सरा-स
पत्नी, उस पत्नी की गोद में दो फूल-से बच्चे।

खट!

मैं चौंकी। उन्होंने केस में से एक सिगरेट निकालकर उसे बंद किय
था। वे बड़े सहज भाव से उसे सुलगा रहे थे। पर इस सहजता के पी
कितना प्रयास था, मेरी पारदर्शी आंखों ने देख लिया था।

एकाएक उन पर मुझे ममता हो आयी। पुरुष होने का कितना बड़
दंड भुगत रहे थे। वे मन भरकर रो भी नहीं सकते थे। एकाएक उनक
सारा दुःख बांट लेने की इच्छा हो आयी। व्यर्थ ही उनसे अपना द
छिपाती फिर रही थी मैं। वे भी तो मेरी तरह निर्वासन का दंड भुग
रहे थे। मेरी तरह अपने स्नेह के साम्राज्य से निष्कासित थे।

बैरा जब चाय की ट्रे उठाकर ले गया तो मैं उठकर उनकी कुर्स
की बांह पर बैठ गयी। उनके बालों में धीरे से अपने होंठ छुआते हु
मैंने कहा, कल गुड़िया के बारे में पूछ रहे थे न! सुनिएगा?'